श्रीतारा-स्वरूप-तत्व

भूमिका

तन्त्र प्रतिपादित देवी-देवताओं के स्वरूपों की व्याख्या सदैव रहस्यात्मक रही है। उसे विज्ञ साधक ही गुरुदेव की कृपा से हृदयङ्गम कर पाते हैं परन्तु आज न तो वैसे साधक हैं और न वैसे सद्गुरु ही सुलभ हैं। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर 'दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत' श्री श्यामानन्द जी महाराज ने समुचित रूप से ध्यान दिया और उन्होंने भगवती आद्या तथा भगवती द्वितीया के ध्यान-स्वरूपों की तात्विक विवेचना करके उनको स्पष्ट करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। यह 'श्रीतारा स्वरूप तत्त्व' उनकी ऐसी ही एक रचना है। इसके पहले वे भगवती आद्या के सम्बन्ध में 'श्री काली स्वरूप तत्त्व' लिखकर श्री काली जी के विभिन्न ध्यानों का तात्विक दृष्टि से विवेचन करके उनके वास्तविक रहस्य को प्रकट कर चुके हैं। उसी पद्धति का अनुसरण करके उन्होंने भगवती तारा के भव्य रूप का इस पुस्तक में तात्विक दृष्टि से विवेचन किया है और यह सिद्ध कर दिखाया है कि भगवती तारा पराशक्ति हैं और उनका स्थूल रूप तथा उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग एवं वेशभूषा भी उनके उसी परतत्त्व के निदर्शक हैं। यह विवेचना सरल, सुबोध तथा प्रभावशालिनी है। इसको अधिक स्पष्ट करने तथा प्रामाणिक रूप देने के लिए श्री श्यामानन्द जी ने इसके परिशिष्ट में 'श्री

तारास्वरूपाख्य स्तव' को सानुवाद दिया है और उसकी तात्विक दृष्टि से व्याख्या भी की है। इस महत्त्वपूर्ण पुस्तिका से भगवती तारा के पर रूप का साधक अनायास ही दर्शन कर सकते हैं तथा अपनी साधना में सरलता से अग्रसर भी हो सकते हैं। जो लोग भगवती के भव्य रूपों को, उनके अंग प्रत्यङ्गों को तथा उनके आयुधों को देखकर उनके सम्बन्ध में शङ्काशील बने रहते हैं, उनकी सारी शङ्काएँ श्री श्यामानन्द जी ने अपनी सुबोध विवेचना से इस पुस्तक से दूर कर दी हैं। हमारा शाक्त साधकों से अनुरोध है कि वे इनकी व्याख्याओं को पढ़कर एकनिष्ठ होकर अपनी साधना को सफल बनाने का प्रयास करें। यही नहीं, इनकी रचनाओं द्वारा शाक्ततत्त्व को समझकर शाक्तधर्म की गौरव-अभिवृद्धि के लिए यत्नवान भी हों। हिन्दी में श्री श्यामानन्द जी का यह अपने ढङ्ग का प्रथम और अनुपम प्रयास है और उनका यह प्रयास सारगर्भित तथा कल्याणप्रद भी है। हमारा उनसे अनुरोध है कि अन्य सिद्ध-विद्याओं के सम्बन्ध में भी ऐसे ही तात्विक विवेचन लिखकर शाक्तधर्म को अधिकाधिक उपादेय और गौरवपूर्ण बनाने के अपने प्रयत्न में यत्नवान रहें, जिससे लोक का अधिकाधिक कल्याण-साधन हो सके।

ज्येष्ठ कृष्णाष्टमी २०१३ —रमादत्त शुक्ल

श्री तारा-स्वरूप-तत्त्व

ताप यानी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन तापों से तारनेवाली को तारा कहते हैं। यह द्वितीय महाविद्या या सिद्धविद्या है। भगवान् पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से इसी विद्या की व्याख्या की है। इसी विद्या से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशों से जीव की रक्षा होती है। तारा और काली में नाम मात्र का भेद है। इसकी विवेचना आगे चलकर होगी। तारा के अन्तर्गत तीन शक्तियाँ नील-सरस्वती, एकजटा और उग्रतारा हैं। तारा सरलतापूर्वक ज्ञान देती है इसलिए नीलसरस्वती कही जाती है, निष्काम साधकों को उग्र आपत्ति यानी सबसे कठिन दुःख अर्थात् भव-बन्धन से मुक्त करनेवाली और सकाम साधकों की आधिभौतिक यानी लौकिक आपत्ति का नाश करनेवाली होने से उसका उग्रतारा तथा कैवल्यदायिनी होने से एक-जटा नाम है। सारांश यह कि इस भगवती के नाम ही से तारिणी अर्थात् संसार-सागर-पारकारिणी ब्रह्मरूपिणी का बोध होता है।

जैसे कृष्ण और नीलवर्णों में नाम मात्र का भेद है, वैसे ही पूर्णब्रह्मस्वरूपा काली और नीलवर्णा सत्वगुणात्मिका तत्वदायिनी तारा भगवती में नाम मात्र का भेद है। इसी हेतु शास्त्रकारों ने कहा है कि इनमें भेद करनेवाला नरक

में जाता है। तारा भगवती श्यामवर्णा भी है जैसा कि लिखा है—

श्यामवर्णां त्रिनयनां द्विभुजां वरपंकजे।
दधानां बहुवर्णाभिर्बहुरूपाभिरावृताम्॥

इत्यादि।

तत्वबोध में लिखा है कि 'काली ही नीलतेजस्वरूपिणी तारा है।' काली भगवती के क्रोधक्रम के ध्यान से भी यही बोध होता है। वह ध्यान तारा के ध्यान से मिलता-जुलता है। यहाँ तक कि उसमें काली भगवती तारा भगवती के समान ही प्रत्यालीढा हैं। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ काली निष्कल ब्रह्मद्योतिका है, वहाँ तारा सकलब्रह्मद्योतिका है। सकलब्रह्म का अर्थ है कलायुक्त। कला की परिभाषा शास्त्रों में इस प्रकार है कि इसकी सर्वकर्तृताशक्ति संकुचित होकर कतिपय अर्थों से युक्त हो इस (आत्मा) को किञ्चित् और विशिष्ट काम मात्र करनेवाला बनाती हुई कला कहलाती है। ये कलाएँ शाक्त-शक्ति क्रम से सात हैं जैसा कि शक्ति-संगम में लिखा है—१ परा, २ परात्परा, ३ अतीता, ४ चित्परा, ५ तत्परा, ६ तदतीता, ७ सर्वातीता। किन्तु शक्तिक्रम से ये सात कलायें उसी तन्त्र में इस प्रकार वर्णित हैं—१ अ, २ उ, ३ म, ४ नाद, ५ विन्दु, ६ परमविंदु, ७ विन्द्वतीता। इसी सातवीं कला का नाम शाम्भवी है, जिसके ऊपर कोई सत्ता नहीं है। किन्तु जीव की कला साधारणतया सोलह हैं, जिनसे सृष्टि का कार्य्य चलता है। ये सोलह कलायें ये हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्रायें और सोलहवाँ मन। इसी से प्रपञ्च है। इन सोलहों कलाओं का बन्धन काटती है निर्वाणकला। यह

निर्वाणकला ‿ है। उपर्युक्त सात कलाओं में शाम्भवी यानी सातवीं को छोड़कर छः कलायें गोचर हैं। यही तारा भगवती का रूप है। कारण तारा भगवती प्रणवरूपा है। प्रणव की अन्तिम कक्षा है विन्दु। इस विन्दु के अतीता है अगोचरा शाम्भवी कला, जो काली है। अस्तु, ब्रह्म दोनों से ही बोध्य है। काली अगोचर ब्रह्मद्योतक इसलिए है कि महाप्रलय में आकाश का भी उसमें लय हो जाता है, जिसका अनुमान हो नहीं सकता।

वस्तुतः आकाश, जो शून्य है, उसका लय होने पर फिर रहता क्या है यह न मन में आ सकता है और न कहा ही जा सकता है। इसी हेतु वेद भी 'नेति नेति' कहकर चुप हो जाता है। और जब ब्रह्म को गोचर माना जाता है और आकाश को ही ब्रह्म माना जाता है तो वही 'प्रणवात् ब्रह्मरूपा तत्व-स्वरूपिणी' तारा के नाम से बोध होता है। आकाश ब्रह्म है। यह प्रणवरूपा है। इस आकाशब्रह्म का गुण शब्द है। शब्द से सृष्टि आरम्भ होती है। अतएव तारा भगवती ही शब्दब्रह्म है। बौद्ध तन्त्रों में ओंकारा बुद्धशक्ति को कहते हैं। यह बुद्ध-शक्ति तारा है। ओंकार है पुल्लिङ्ग और ओंकारा है स्त्रीलिङ्ग किन्तु अर्थ एक ही है। ओङ्कार (प्रणव) को तारक कहते हैं क्योंकि यह महामन्त्र तारनेवाला अक्षरब्रह्म है। अर्थात् ओंकार का विश्लेषण करने से हम सबसे ऊपर विन्दु पाते हैं, उसके नीचे नाद का चिह्न अर्द्धचन्द्र [‿], जिसका नाम है निर्वाणकला और जिसके नीचे है 'ओं,' जो 'अ' + 'उ' मिलकर बनता है। 'अ' से ब्रह्मा का और 'उ' से विष्णु का बोध होता है। अब एक एक को लेकर विवेचना करनी है कि विन्दु, नाद, ब्रह्मा और विष्णु से क्या बोध होता है। विन्दु है घनीभूत शक्ति का द्योतक। इसकी व्याख्या भास्करराय ने इस प्रकार की है—

इस कारण विन्दु से कार्यविन्दु, तब नाद, तब वीज ये तीनों उत्पन्न होते हैं। इस हेतु तीन अवस्थाओं के अनुसार परविन्दु, सूक्ष्मविन्दु और स्थूलविन्दु कहलाता है। परविन्दु, सूक्ष्मविन्दु और स्थूलविन्दु के नामान्तर हैं मनोविन्दु, प्राण-विन्दु और अहंविन्दु। इस घनीभूता पराशक्ति की इच्छा "एकोऽहं वहुस्याम' से नाद हुआ। 'उन्मना' और 'समना' शक्ति की सन्धि अर्थात् शिव और शक्ति की संयुक्तावस्था ही नाद है। नाद सदाख्य तत्व है और इसकी चार कलायें हैं— इन्धिका, दीपिका, रोचिका और मोचिका। अस्तु, नाद का अर्थ है, शब्द जो अनाहत और आहत दो प्रकार का होता है। इससे सृजन-शक्ति अर्थात् ब्रह्मा और पालनशक्ति अर्थात् विष्णु की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सृष्टि का कार्य प्रारम्भ हुआ। यह तो प्रणव के सृष्टिक्रम का भाव है। इसमें संहारशक्ति रुद्र का समावेश नहीं दीख पड़ता। यह संहारशक्ति आवश्यकतानुसार प्रणव अक्षर के संहारक्रम में उपस्थित होकर अपना कार्य करती है। प्रणव का यह संहारक्रम इस प्रकार है। जब हम नीचे से ऊपर की ओर चलते हैं अर्थात् प्रणव का रूप अ + उ + म् होता है, तब म् अर्थात् अर्धमकार ही रुद्र यानी संहार-शक्ति है।

तारा ही, जिसको हूंकारवीजोद्भवा कहते हैं, घनीभूता शक्ति से प्रकट होकर नाद है। यही नाद (शब्द) आकाश का गुण है। गुण और गुणमय अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् में अभेद है। निर्गुण ब्रह्म जब सगुण होकर प्रकट होता है तब उसका तारा के नाम से वोध होता है। इसी सगुण ब्रह्म की धारणा या कल्पनाकर अपनी अपनी रुचि और ज्ञान के अनुसार शास्त्रों में उसका ध्यान कहा गया है। क्योंकि ध्यान के सिवा मोक्ष का दूसरा साधन नहीं है। शास्त्रकारों का मत है कि ज्ञान से ही

मुक्ति होती है। ज्ञान को धारणा कह सकते हैं। धारणा है चित्त का किसी देश-विषय से सम्बन्ध। यहाँ देश से तात्पर्य है ब्रह्म से। जैसे ज्ञान से तात्पर्य है ब्रह्मज्ञान से। अतः ब्रह्मधारणा और ब्रह्मज्ञान एक ही वस्तु । अब यह देखना है कि यह ज्ञान परिपक्व कैसे होता है। यह परिपक्व अर्थात् स्थिर होता है ध्यान से। जिस विषय-विशेष में धारणा यानी ज्ञान से चित्त-वृत्ति को लगाया है, उसी विषय में चित्त के विजातीय प्रवाह को रोक सजातीय प्रत्यय प्रवाह को निरन्तर रूप से जारी रखना ही धारणा है। चित्तवृत्ति अनवरत चल होने से दुर्निग्रह है अर्थात् चित्त को वश में रखना बहुत कठिन है। इसको वश में करने का उपाय एक ही है। वह है ध्यान, जो ज्ञान से बढ़ कर नहीं तो कम भी नहीं है। स्वयं कृष्ण भगवान् ने कहा है कि 'मन का निग्रह बड़ा कठिन है, केवल अभ्यास और वैराग्य से ही किया जा सकता है।' इस उक्ति में दो साधनों का उल्लेख है, अभ्यास और वैराग्य का। किन्तु मुख्य अभ्यास ही है। वैराग्य गौण है कारण वैराग्य से अभ्यास में सहायता मात्र पहुँचती है। ध्यान के अभ्यास से समाधि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ अगर कोई यह शंका करे कि ईश्वर-प्रणिधान से समाधि-सिद्धि होती है तो ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती, तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर का प्रणिधान अर्थात् ईश्वर में आत्मनिवेदन भी विना धारणा और ध्यान के हो नहीं सकता। ईश्वर का ज्ञान ही नहीं होगा और धारणा की दृढ़ स्थिति नहीं होगी तो आत्म-समर्पण असम्भव है। अतएव किसी भी मार्ग का अवलम्बन क्यों न करें, ध्यान के बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता।

तारा भगवती के असंख्य रूप हैं। शक्तिसंगम में लिखा है—'तारा की संख्या तीन खर्व और काली की दस अर्बुद है',

जो असंख्यबोधक है। अतएव हमको यह देखना चाहिये कि देवर्षि, महर्षि आदि भाग्यवानों ने किस किस रूप में ब्रह्मरूपा "माँ" तारा को देख पाया है। तत्पश्चात् यह समझना चाहिये कि उन्होंने हम अज्ञानियों के सुभीते के लिए वेद और तन्त्रशास्त्रों में किस संकेत से रूप का वर्णन किया है, जिससे हम अपनी रुचि के अनुसार ध्यानकर अपने अपने लक्ष्य पर पहुँचें क्योंकि हम सबका लक्ष्य एक नहीं है। हममें कुछ निष्कामोपासक हैं और कुछ सकामोपासक, जिससे ध्यान में पृथक्ता आ जाती है। इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है। जैसे तारा भगवती से मोक्ष की इच्छा होने पर उसका उसी प्रकार शास्त्रोक्त ध्यान करना होता है और यदि विद्या (अपरा-विद्या) चाहते हैं तो दूसरे प्रकार का शास्त्रानुसार ध्यान करना होता है। ऐसा न करने से फल-प्राप्ति में गड़बड़ हो जाता है। षट्कर्मों में तो उलटा फल भी होता देखा गया है। दूसरी विशेषता ध्यान में एक और है, जिसके बिना ध्यान का महत्व नहीं है।

तन्त्र में ध्यान का आधार जप है। जप होता है मन्त्र का। इस हेतु मन्त्र के अनुसार ही ध्यान करना चाहिये। यह तभी होगा जब हम मन्त्र का अर्थ गुरुमुख से समझकर ध्यान करेंगे। क्योंकि मन्त्र है इष्टदेवता का शब्दरूप। भगवान् पतञ्जलि ने यही अपने योगदर्शन में उपदेश दिया है कि 'उसका जप तदर्थभावना है।' यह तदर्थ है देवता का स्वरूप (ध्यान) और गुण-ज्ञान, जिसके बिना जप जप नहीं है, केवल मन्त्रोच्चारण है और जो प्रायः निष्फल ही है। विना अर्थ समझे जप करना है सुग्गे की तरह राम-राम कहना। राम कहने से जो बोध होता है, फल उसी पर निर्भर करता है। अगर सुग्गे की तरह बोध कुछ भी न हुआ तो फल भी उसी प्रकार कुछ न

होगा। ध्यान के विना जप नहीं होता किन्तु जप के विना ध्यान होता है। जप ध्यान का मुख्य साधन होते हुये भी परिपक्वावस्था में पहुँचे हुए साधक को जप की आवश्यकता नहीं रह जाती। जप के विना भी ध्यान की स्थिति इच्छित समय तक रहती है। शास्त्रों में लिखा है—'कोटिपूजा के समान स्तोत्र का पाठ है। कोटिस्तोत्र के पाठ के बराबर जप है। कोटिजप के बराबर ध्यान है और कोटिध्यान के तुल्य लय यानी मोक्ष है।' इससे ध्यान की उत्कृष्टता सिद्ध होती है कारण लय तो ध्यान की ही चरमावस्था है।

ध्यान का प्रारम्भिक आधार मन्त्रजप ही है। मन्त्र और देवता में अभेद है जैसे देवता और गुरु में है अर्थात् तीनों एक हैं। मन्त्र की परिभाषा कुलार्णवतन्त्र में इस प्रकार है कि 'असीम तेजवाले तत्वरूपी देव के मनन से अर्थात् अर्थ-सहित स्मरण से सब प्रकार के लौकिक और पारलौकिक भय जिससे दूर हों, वही मन्त्र है।' यह मन्त्र शब्दब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी हेतु मन्त्र और देवता में अभेद है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, शब्दब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। यही शब्दब्रह्म जीव में कुण्डलिनीशक्ति के रूप में रहता है। यह जीव की शक्ति है। देवता का प्रत्यक्ष दर्शन इसी कुण्डलिनीशक्ति यानी शब्दब्रह्मांश को पूर्ण करनेवाले शिव-शक्तियोग द्वारा होता है। मन्त्र देवता का स्वरूप है, जिसके अनुसार ही ध्यान किया जाता है। ध्यान की व्याख्या कुलार्णव में सुन्दर ढङ्ग से कही गई है, जो यह है—'सब कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं को वश में लाकर अपने इष्टदेवता के चिन्तन को ध्यान कहते हैं।' अस्तु, मन्त्र के अनुसार ही ध्यान होना चाहिए। इस हेतु एक ही देवता के भिन्न भिन्न असंख्य मन्त्र हैं। अर्थात् असंख्य शब्दरूप हैं। मंत्र पुलिङ्गात्मक, नपुंसकात्मक

और स्त्रीलिङ्गात्मक होते हैं। 'हूं' और 'फट्' जिस मन्त्र के अन्त में है, वह पुंल्लिङ्ग मन्त्र है। 'नमः' अन्त में होने से नपुंसक और 'स्वाहा' अंत में होने से स्त्रीलिंग मंत्र होता है। स्त्रीलिंगात्मक मन्त्र को विद्या कहते हैं।

लोग कहते हैं कि इतना मंत्रजप करने से भी फल नहीं हुआ! फल हो तो कैसे हो जब आरम्भ से ही क्रम में विपर्य्यय हो? एक तो गुरु ही 'शिष्यसंतापहारक' के बदले "शिष्यवित्तापहारक" होता है। खैर, तब भी होता अगर गुरु ज्ञाता होता। अगर भाग्यवश ज्ञाता गुरु मिला भी तो गुरु का सान्निध्य होना असम्भव होता है कारण कि शिष्य को इतनी फुरसत नहीं कि गुरु से दीक्षा ले. साधना-क्रम सांगोपांग सीखे और गुरु की देख-रेख में साधना करके जो जो समझने और करने में कठिनाइयाँ हों, गुरुमुख से समझकर उन त्रुटियों को दूर करे। फिर मंत्र की दीक्षा होती है वंशपरंपरागत कुलगुरु ही द्वारा। चाहे वह ज्ञाता हो या अज्ञाता; अधिकारी हो या अनधिकारी। शिष्य महाशय मन्त्र का ऋष्यादि भी नहीं सीखते। ऋष्यादि में साधारणतया यह देखा जाता है कि वीजमन्त्र कुछ और वीज, शक्ति तथा कीलक कुछ और होता है। जैसे यह मेरा निजी अनुभव है क जिसको 'क्रीं' वीज की दीक्षा है, उसके ऋष्यादि में, व्यवहार में और पुस्तकों में भी 'ह्रीं वीजं हूं शक्तिः क्रीं कीलकम्' ऐसा प्रयोग होता है। यह महा अशुद्ध प्रयोग है। 'क्रीं' मन्त्र का 'ह्रीं' वीज कैसे होगा? 'हूं' शक्ति किस प्रकार होगी! 'ह्रीं' वीज, 'हूं' शक्ति, 'क्रीं' कीलक तो द्वाविंशाक्षर मंत्र—आद्या की विद्याराज्ञी का है। किन्तु आधुनिक पद्धतियों में ऐसा ही लेख दीख पड़ता है। इसके ऊपर मन्त्रार्थ नहीं बतलाया जाता है। जपविधि भी ठीक से नहीं सिखाई जाती

है। जप बिना ध्यान के निष्फल है, इसका भी ज्ञान नहीं जप की संख्या पूर्ण करने में अशुद्ध उच्चारण होता है कारण जल्दी में दीर्घ को ह्रस्व ही जपा जाता है। इस अवस्था में फल कैसे हो! इसमें गुरु और शिष्य दोनों का दोष है।

इस दशा के सुधारने का भार सच्चे विद्वानों पर है, जो तत्व-ज्ञाता और स्वयं साधक हैं। "परोपदेशे हि पाण्डित्यं" वाली नीति काम नहीं देगी। गुरु ऐसा होना चाहिये, जो समय, स्पर्श, वेध, वर्ण, कला, दग्, मनोदीक्षा और गण्डूषाख्या दीक्षाएँ लेकर अभिषेक प्राप्तकर बोध, मेधा, दिव्यसाम्राज्यमेधा, महत्साम्राज्यमेधा और विधाराज्या इत्यादि दीक्षाएँ ग्रहण कर चुका हो और शिष्य को भी इन्हें दे सके। माध्यमिक दीक्षायें न लेकर पूर्णदीक्षा लेने से लाभ के बदले हानि की ही सम्भावना है। यह ठीक उसी तरह है जिस तरह होम्योपैथी की 'एम० डी०' डिग्री। केवल फीस देकर और नाममात्र की परीक्षा देकर, जिसमें अनुत्तीर्ण होता कोई नहीं देखा जाता, 'डाक्टर आफ मेडिसिन' हो जाते हैं। "नीम हकीम जान का खतरा" वाली कहावत आजकल इस तान्त्रिक जगत् में साधारणतया देखा जाती है। इसी से इसकी ऐसी बदनामी हो गई है। इसको दूर करना प्रत्येक समझदार तान्त्रिक का पावन कर्त्तव्य है।

अस्तु, ध्यान के बिना कुछ भी नहीं होता है। यह तो पूर्व सिद्ध हो चुका है। अब भगवती तारा के जितने ध्यान उपलब्ध हैं, उनमें से मुख्य के भाव यहाँ लिखे जाते हैं। पहले भगवती तारा के चुने हुये ध्यान देखिए—

(१) तारोपनिषद् में—

विरुद्धवाक्यार्थशरीरमण्डले नवाम्बुदाभां गुरुमुन्नतोदरीम् । अतीवखर्वां नवयौवनस्थामधःस्थशार्दूलककृत्तिमूर्धजाम् ॥१॥

अनैक्यमाहृत्य शवोपरिस्थितां शवार्धमालीढ़परीतमध्यमाम् । विशीर्णवर्णां नृशिरः स्रजोद्भवां त्रयी विवर्त्तारुणलोचनत्रयाम् ॥२॥

अभेदपिंगैकजटाविराजितां विभूषणाच्छिन्नसितास्थिभीषणाम् । महाष्टसिद्धिप्रकाराहिभूषणामट्टाट्टहासैर्जगतामभीतिदाम् ॥३॥

जटास्वनन्तः श्रवसोश्व तक्षको महाहिपद्मो हृदिहारभूषणाम् । तथैव कर्कोटकृतोपवीतिकां सुमेखलायामथ देववासुकिः ॥४॥

सशंखपालः किल कंकणो मतः पदेषु पद्मः किल नूपुरश्रियम् । भुजेषु नागः कुलिकाङ्के दोमतो भुजोऽर्धमालामहतास्थितिः स्थिता ॥५॥

सितश्च रक्तो धवलश्च मेचकस्तथैव नागोऽथ सितश्च पाण्डरः । भुजंगमानामिह वर्णजातयो भवन्ति सर्वे मुनिभिर्ज्वलच्चिताम् ॥६॥

कपालकर्त्री ग्रथितोग्रमूर्धजां सनालमिन्दीवरकान्तिमालाम् । विकोषखड्गं सततं च दक्षिणे स्वपौरुषात्थैर्दधतीं भुजैः सदा ॥७॥

पदार्थदंष्ट्राढ्य पञ्चमुद्रया विराजमानामसि-
तोत्पलस्रजम् । विचिन्तयेत्तां च कवित्वकारिणी-
मन्यागतार्थं प्रजपेच्च तारिणीम् ॥८॥

(२) मन्त्रचूडामणि में—

तस्योपरिगृहे देवीं खर्वां नीलमणिप्रभाम् ।
लम्बोदरीं व्याघ्रचर्मसमावृतनितम्बिनीम् ॥
पीनोन्नतपयोभारां रक्तवर्त्तुललोचनाम् ।
ललज्जिह्वां महाभीमां दंष्ट्राकोटिसमुज्ज्वलाम् ॥
नीलोत्पललसन्मालां बद्धजूटां भयंकरीम् ।
श्वेतास्थिपट्टिकायुक्तकपालपञ्चशोभिताम् ॥
ललाटे रक्तनागेन कृतकर्णावतंसकाम् ।
अतिशुभ्रमहानागकृतहारमहोज्ज्वलाम् ॥
दूर्वादलश्यामनागकृतयज्ञोपवीतिनीम् ।
चतुर्भुजां रक्तमांसखण्डमण्डितमुष्टिना ॥
जटाजूटाक्षसूत्रेण शोभितां तीक्ष्णधारया ।
खड्गेन दक्षिणस्योर्ध्वे शोभितां वीरनादिनीम् ॥
तदधःस्थाद्बीजवृन्तकर्तृकालंकृतां पराम् ।
वामोर्ध्वे रक्तनालेन दिगम्बरमनोहराम् ॥
दधतीं नीलपद्मञ्च तदधःस्थात् कपालकम् ।
जगतां जाड्यसंयुक्तं दधतीं कुन्दसन्निभाम् ॥

धूम्राभनागसन्दोहकृतकेयूरसत्वराम् ।
सुवर्णवर्णनागेन कंकणोज्ज्वलपाणिकाम् ॥
शुभ्रवर्णमहादेवकृतसद्विमलासनाम् ।
निर्यन्त्रणभिया तद्वत् संकुचत् प्रपदात्मिकाम् ॥
शवपादद्वयारूढवामपादां हसन्मुखीम् ।
कुन्दाभनागसंशोभिकटिसूत्रां त्रिलोचनाम् ॥
असृग्रक्तेन नागेन कृतनूपुरपल्लवाम् ।
सद्यश्छिन्नगलद्रक्तं मुण्डैरक्तविभूषणैः ॥
अन्योन्यकेशग्रथितैः पादपद्मविलम्बितैः ।
पञ्चाशद्भिर्महामालाशोभितां परमेश्वरीम् ॥
ज्वलच्चितामध्यसंस्थां द्वीपिचर्मोत्तरांशुकाम् ।
अक्षोभ्यनागसम्बद्धजटाजूटां वरप्रदाम् ॥
एवंभूतां महादेवीमात्मानं यागवस्तु च ।
विज्ञापयेन्महादेव पण्डितोऽन्हे महाकविः ॥

(३) नीलतन्त्र में—

प्रत्यालीढपदां घोरां मुंडमालाविभूषिताम् ।
खर्वां लम्बोदरीं भीमां व्याघ्रचर्मावृतां कटौ ।
नवयौवनसम्पन्नां पञ्चमुद्राविभूषिताम् ।
चतुर्भुजां ललज्जिह्वां महाभीमां वरप्रदाम् ॥
खड्गकर्त्रीधरां सव्ये वामे मुण्डोत्पलान्विताम् ।
पिंगोग्रैकजटां ध्यायेन्मौलावक्षोभ्यभूषिताम् ॥

बालार्कमण्डलाकारलोचनत्रयभूषिताम् ।
प्रज्वलत्पितृभूमध्यगतां दंष्ट्राकरालिनीम् ॥
सावेशस्मेरवदनामस्थ्यालंकारभूषिताम् ।
विश्वव्यापकतोयान्तः श्वेतपद्मोपरिस्थिताम् ॥

इन सब ध्यानों का आशय यह है—भगवती तारा का शरीर विरुद्धवाक्यार्थ है, यह महाश्मशान में जलती हुई चिता में रहती है, शव पर खड़ी है, नीलवर्णा है, मोटी और लम्बे वा विशाल उदरवाली है, खर्वा है, नवयौवनस्था है, एक जटावाली है, यह जटा पिंग है, जटा में अक्षोभ्य है, पञ्चमुद्राविभूषिता है, कराला वा भयानक दीखनेवाली है, त्रिनयना है, चार भुजा-वाली है—एक में खड्ग, दूसरे में कर्त्तरिका, तीसरे में कपाल और चौथे में सनाल कमल है, पचास मुंडों की माला धारण करनेवाली है, अट्टहास कर रही है, लोल व लपलपाती जिह्वा-वाली है, आठों अंगों में अनन्तादि आठ वर्णों के आठ नागों को आभूषणस्वरूप धारण करनेवाली है, दो दाँत बाहर निकले हैं और चन्द्रार्धकृतशेखरा है।

इनमें से प्रत्येक विशेषता का सूक्ष्मार्थ समझने से ही इनके रहस्य का ज्ञान होता है। केवल शाब्दिक अर्थ से काम नहीं चलता। अतः यहाँ एक-एक की व्याख्या करते हैं—

विरुद्धवाक्यार्थशरीर

परोक्षत्व और अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट चैतन्य के ऐक्य-सम्बन्धी अनेक वचनों के अर्थ में विरोध का द्योतक है। इसका लक्ष्यार्थ संक्षेप में अखण्डचैतन्य मात्र है। यह भाग लक्षणा से बोध होता है। जैसे महावाक्य 'तत्त्वमसि' में सर्वज्ञत्व और

अल्पज्ञत्व के विरुद्ध अर्थ के त्याग से चैतन्य मात्र का बोध होता है। इसी प्रकार ब्रह्म और अचिद्ब्रह्म के अर्थ के त्याग से केवल अनिर्वचनीय ब्रह्म का बोध होता है। अतएव बाह्य वृत्ति से सगुण ब्रह्म का भान होता हुआ भी अनिर्वचनीय ब्रह्म ही है। यह बात इस उदाहरण से और स्पष्ट हो जाती है कि आग और पानी परस्पर विरुद्ध होते हुए भी 'तत्व' होने से उनमें अभेद है। दोनों ही तत्व हैं।

महाश्मशान

यह नवात्मकेश्वरी कोटिब्रह्माण्डनायिका जगदम्बा त्रिपुर-सुन्दरी के विन्दुस्थान से ऊपर और श्रीदक्षिणाश्मशान (श्मशानाष्टक) के नीचे प्रत्यालीढपदाख्य श्री तारिणीपुर है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रिपुरसुन्दरी भगवती प्रपञ्चेशी है। यह प्रपञ्च वा जगत् वियदादि पञ्चभूतों से है। अतएव तारा भगवती का स्थान पञ्चमहाभूतों से परे है। इसी हेतु इसको पञ्चशून्यस्थिता कहा गया है।

ज्वलच्चितामध्यसंस्थां

अर्थात् जलती चिता के मध्य में स्थित हैं। यह महाप्रकाश का द्योतक है। ज्वालारहित अर्थात् बुझी चिता में प्रकाश का अभाव रहता है, जो सर्वथा प्रतिकूल लक्षण है। ज्वाला ज्योति का व्यञ्जक है। शास्त्रों में जब वियदादि पञ्चमहाभूतों का, जिनकी नित्यता केवल आकाश में लय वा एक होने पर रहती है, परज्योतिरूप सम्पत्ति सिद्ध है। इस अवस्था में यह ज्योतिरूप-सम्पत्ति ब्रह्म की ही है, ऐसा स्वतः सिद्ध होता है। ज्योति से परमात्मा का रूप सिद्ध होता है और श्रुति के वचनों से यह आत्मा का भी रूप सिद्ध होता है। संक्षेप में जलती

चिता के मध्य में स्थित होने का तात्पर्य है स्वप्रकाशरूपी चित्शक्ति में अधिष्ठिता। यह ब्रह्म का ही एक लक्षण है। इससे परम कल्याण सिद्ध होता है अर्थात् भगवती तारा परमकल्याणमयी है, ऐसा बोध होता है

नीलवर्णा

नीलवर्ण शुद्ध सत्वगुणात्मक घनीभूत तेज चिदाकाश का द्योतक है। आकाश, जो ब्रह्म है, उसका रङ्ग वा वर्ण नील होने से भगवती तारा का वर्ण नील है। इससे तारा भगवती 'खं ब्रह्म' है, ऐसा सिद्ध होता है। इससे शक्तिलक्षण से सर्वव्यापकत्व सिद्ध होता है कारण आकाश का गुण सर्वव्यापकत्व भी है। मेघरहित वा निर्मल गगन मात्र का वर्ण नील होता है। इससे शुद्धत्व का भ बोध होता है। अतएव नीलवर्ण सर्वव्यापकत्व और शुद्धत्व का द्योतक है। तात्पर्य यह है कि शरीर का नीलवर्ण तो आकाशवत् सर्वव्यापक और शुद्धता का द्योतक है और प्राण का कृष्णवर्णत्व पूर्णब्रह्मत्व का द्योतक है।

शवोपरिस्थिता

अर्थात् शव पर खड़ी है। इसका लक्ष्यार्थ यह है कि यह अनैक्यभाव का खण्डन करती है। अनैक्य को द्वन्द्वत्व भी कह सकते हैं। इसको मारकर वा हटाकर खड़ी है। दूसरा लक्ष्यार्थ यह है कि शव प्रपञ्च का द्योतक अर्थात् अचित् है। अचित्-रूप पर चिद्रूपिणी प्रकाशशक्ति अवस्थिता है। यह भाव चित् और अचित्ब्रह्म में ऐक्य सिद्ध करता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि नित्यसत्ता त्रिविधा है—अपरिणामिनी, समपरिणामिनी और विषमपरिणामिनी। इन तीनों को चिन्मात्र, अचिन्मात्र और

उभयवृत्ति भी कहते हैं। इसी उभयवृत्ति का व्यञ्जक है चित्-शक्ति का शवाधिष्ठानत्व। शव अनित्य विषमपरिणामिनी सत्ता का द्योतक है। तीसरा लक्ष्यार्थ यह है कि परमावस्था स्वरूपावस्था से भिन्न नहीं है। इससे निर्विकारा की प्रतिपत्ति है। चतुर्थ लक्ष्यार्थ में यह भाव है कि शवरूपी अधिष्ठान का, जिसको अनित्य कह आये हैं, वस्तुतः नाश नहीं होता है। यह शव प्रपञ्च का द्योतक है। यही चित्शक्ति का आधार है। इसी हेतु प्रपञ्चाधारा कहते हैं। इस 'प्रपञ्चाधारा' शब्द के दो अर्थ हैं। एक 'प्रपञ्च का आधार' अर्थात् प्रपञ्च उसी ब्रह्म वा 'खं ब्रह्म' से निकला है। और दूसरा है 'प्रपञ्च ही जिसका आधार है।' अर्थात् प्रपञ्च से ही जो जानी जा सकती है यथा कार्य से ही कारण का बोध होता है। इससे, जैसा पूर्व कहा गया है, चित् और अचित्ब्रह्मैक्य सिद्ध होता है।

विश्वव्यापकतोयान्तः श्वेतपद्मोपरिस्थिताम्

अर्थात् विश्वव्यापक वा एकार्णव में उजले कमल पर खड़ी हैं। एकार्णव का भावार्थ यह है कि जगत् में जल सम्वित् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी को श्रुति में दिव्य मंगलालय निरतिशयानन्दामृतसागर के रूप में उल्लेख किया है। इसी आनन्दामृतसागर में श्वेत अर्थात् विशुद्ध वा अमल तत्व पर आनन्दब्रह्म भगवती तारा स्थित है।

गुरुमुन्नतोदरी

अर्थात् मोटी विशाल उदरवाली। इससे ब्रह्म के विराट् विश्वरूप स्थूल शरीर का बोध होता है। ब्रह्म जैसे सूक्ष्म वा कूटस्थ है वैसे ही स्थूल वा स्थूलतर है। यह तारकब्रह्म वा प्रणवब्रह्म है। 'गुरुमुन्नतोदरी' प्रणव के आकार का द्योतक है,

जो विराट् विश्व स्थूल है। इससे प्रणव के विराट् विश्वशरीर का, जो स्थूल शरीर कहा जा सकता है, बोध होता है। जिस प्रकार प्रणव के उकार से हिरण्यगर्भ के तैजस्‌रूपी सूक्ष्म शरीर का बोध होता है, उसी प्रकार अव्याकृत प्रज्ञारूपी कारण शरीर का मकार से बोध होता है। अव्याकृत प्रज्ञा अनिर्वचनीया है। यह ब्रह्म के आनन्दभोक्तृत्व स्वरूप का बोध कराता है।

खर्वा

अर्थात् नाटी। इसका लक्ष्यार्थ सूक्ष्मा है। जिस प्रकार ब्रह्म का एक रूप विराट् है, उसी प्रकार इसका एक रूप सूक्ष्म (छोटा) है। भगवती जैसे बड़ी से वड़ी है वैसे ही अणु का भी अणु है। दूसरा भाव यह है कि जिस प्रकार काली का भावार्थ कालभयनाशिनी और दुर्गा का दुर्गविनाशिनी है, उसी प्रकार खर्वा का खर्वकारिणी है अर्थात् गर्वखर्वकारिणी है। यह धर्मी का विशिष्ट गुण है। करुणामयी का यह स्वाभाविक गुण है कि वह मनुष्य क्या देवादि के भी अहंकार का नाशकर उन्हें आनन्दमय कर देती है। यह ठीक ही कहा है कि भगवती का भोजन अहंकार मात्र है।

नवयौवनस्था

वा नित्ययुवती। यहाँ यह शंका होगी कि जब भगवती न बाला है, न युवती है और न वृद्धा ही है, तब यह युवती क्यों कही जाती है? इसका तात्पर्य्य यह है कि यह परिवर्त्तनशीला नहीं है। अर्थात् यह काल के परे है। अतएव "नवयौवनस्था" वाक्य नित्यसत्ता के चित्स्वरूप का द्योतक है।

पीनोन्नतपयोधारा

अर्थात् दूध से भरे बड़े स्तनवाली। स्तन आहार के भण्डार का द्योतक है। भगवती समस्त विश्व को खिलाती है अर्थात् पालती है। इससे भगवती की विश्वपालनकर्तृत्वशक्ति का बोध होता है। भगवती केवल संहार वा लयशक्तिवाली नहीं है। कारण आंशिक शक्ति रखने से वह पूर्ण नहीं कही जा सकती। यह जैसे जगत् की सृष्टि करनेवाली है वैसे ही उसकी रक्षा वा पालन करनेवाली है। विश्वमातृत्व सृजन, पालन और लय त्रिशक्त्यात्मक पूर्णब्रह्म का द्योतक है। अतएव संक्षेप में "पीनोन्नतपयोधारा" से यह तात्पर्य्य है कि भगवती अपने स्तन के अमृतरूपी दूध अर्थात् तत्वज्ञान से अमृतत्व प्रदान करनेवाली है। कारण तत्व-ज्ञान से ही जीव की वास्तविक रक्षा होती है। इस प्रकार तारा मोक्षदात्री है, ऐसा बोध होता है।

व्याघ्रचर्म्मावृता

अर्थात् बाघ के चर्म का अधोवस्त्र है। बाघ राजस पशु का द्योतक है क्योंकि व्याघ्र को मृगराज कहते हैं अर्थात् वह पशुओं का राजा है। राजा में रजोभाव है। और पशु अज्ञानी को कहते हैं कारण अज्ञानी को पशुवत्-ज्ञान अथवा सामान्य-ज्ञान मात्र रहता है। पशु बाह्यदर्शन प्रधान है। अतएव अज्ञान का द्योतक है, जो जीव का सबसे बड़ा वैरी है। यह अज्ञान रजोगुण से पैदा होता है, जो ज्ञान का आवरण है। अतः व्याघ्रचर्मावृता का भावार्थ है रजोगुणजन्य अज्ञान का नियन्त्रण वा दमन करनेवाली। इसका दूसरा अर्थ यह है कि सत्व-गुणमयी तत्वज्ञानदायिनी ने अपने को रजोगुणावृता कर रखा है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं। आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति।

ये दोनों रजोगुण और तमोगुण पर अधिष्ठिता हैं। इन्हीं दोनों से परमात्मा और आत्मा आवृत हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि परमात्मा आत्मा के समान अज्ञान से आवृत क्यों कर हो सकता है? निश्चय ही उसको अज्ञान नहीं है कारण वह चित् है। ऐसी अवस्था में परब्रह्म ने केवल लीला के हेतु अपने को पर्दे के अन्दर डाल रखा है। जहाँ आत्मा अपने कर्म से आवृत है; वहाँ परमात्मा स्वेच्छा से आनन्दोपभोगार्थ अपने को आवृत किए हुए है।

द्वीपिचर्मोत्तरीया

अर्थात् चीते के चर्म को ओढ़े है। जिस प्रकार बाघ रजोगुण का द्योतक है, उसी प्रकार चीता क्रूर होने के कारण तमोगुण का द्योतक है। यह आसुरी योनि है। इसमें द्वेषी (दुष्ट) और क्रूर जीव जन्म लेते हैं। चीते को मारकर उसके चर्म को ओढ़ना तमोगुण का नियन्त्रण है। इसके विना सत्वगुण का उदय नहीं होता है। व्याघ्र और चीता दोनों क्रमशः अहंकार और क्रूर भाव रूपी राजस और तामस पशु हैं। इनको मारकर इनके चर्म का वस्त्र धारण करने का यह तात्पर्य्य है कि भगवती ऊपर से निष्ठुर किन्तु भीतर से करुणामयी है जैसा कि शक्रादि स्तुति में देवताओं ने कहा है—"चित्ते कृपा समर निष्ठुरता च दृष्टा।"

पिंगैकजटा

अर्थात् पिंगवर्ण की एक जूड़ावाली। एकजटा का तात्पर्य्य है केशों को एकत्रकर एक वेणी बनाना। केश शब्द का सूक्ष्म अर्थ ब्रह्मा, विष्णु और महेश है—क=ब्रह्मा, अ=विष्णु और ईश=महेश। ये तीनों क्रमशः सत्व, रज और तमोगुण के

अधिष्ठातृ देवता हैं। अतएव केश से तीनों गुणों का बोध होता है। इनको एकत्रकर एक वेणी वा जटा करने का तात्पर्य्य है सत्वगुण में रज और तमोगुणद्वय को सन्निहितकर एकीकरण करना। इससे अभेदत्व सिद्ध होता है। एकजटा का दूसरा तात्पर्य्य यह है कि केश का जब संस्कार नहीं होता है तो आपस में गुंथकर वह एकजटा में परिणत हो जाता है। इससे केशविन्यासादि विलास-विकार रहिता अर्थात् निर्विकारा है, यह सिद्ध होता है। यह भगवान् शंकर की जटावत् पिंग अर्थात् पीलापन लिये धूम्रवर्ण की है। यह तपस्या का द्योतक है। घोर तपस्या से जब ब्रह्माण्ड में अग्निशिखा प्रज्वलित होती है तो काले केश पिंगवर्ण के दीख पड़ते हैं। इसका यह तात्पर्य्य है कि घोर तपस्या से ही सत्वगुण की प्राप्ति होती है क्योंकि उसी से रज और तमोगुण दबाए जा सकते हैं। तीनों गुणों के द्योतक वर्णों के सम्मिश्रण से पिंगवर्ण बनता है।

अक्षोभ्यनागसम्बद्धजटाजूटाम्

अर्थात् अक्षोभ्यनाग से जटा बँधी है। यह अक्षोभ्य वा अक्षोभ्यनाग कौन है और इससे जटा क्यों बाँध रखी है? अक्षोभ अर्थात् क्षोभ में न आनेवाले वा क्षोभरहित होने से महाकाल का यह नाम पड़ा। इसका पौराणिक कथानक इस प्रकार है कि समुद्रमथन से जब हालाहल विष उत्पन्न हुआ तो बड़ी खलबली मची कि इसको कौन पिए। सुर और असुर दोनों घबड़ा गये। इनके दुःख को देख शंकर भगवान् ने इस कराल विष को पी लिया। सभी को आशंका हुई कि भगवान् शंकर को कष्ट वा क्षोभ होगा। परन्तु देवाधिदेव महादेव को क्षोभ क्यों होता? तभी से इनका नाम अक्षोभ पड़ा। यह सर्प के रूप में कुण्डली-शक्ति

के द्योतक हैं। अक्षोभ्य ताराविद्या की शक्ति और ऋषि है। ऋषि का अर्थ है प्रथम द्रष्टा अर्थात् सबसे पूर्व देखनेवाला। यह कुण्डलीरूप क्षोभ्य यद्यपि स्वेच्छावश वलयाकार होता है तथापि सार्धत्रिवलयाकार कल्पित हैं। यह सार्धत्रिमात्रात्मक प्रणव का द्योतक है। भाव यह है कि पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी त्रिमात्रात्मक और परा अर्धमात्रात्मकरूपी प्रणव का द्योतक है। इसी हेतु तारा भगवती प्रणवनामा है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि कुण्डली मूलाधार में न रहकर शीर्ष पर क्यों है? इसका समाधान यह है कि मूलाधार में कुण्डली सोती रहती है अर्थात् वह अविद्या से ढँकी रहती है। भगवती तो स्वयं ऋतम्भरा प्रज्ञा है। उसके पास अविद्या जा नहीं सकती कारण वह तो अविद्या का नाश करनेवाली है। अतएव जब जीव की प्राणशक्ति कुंडली शीर्ष अर्थात् सहस्रार में जाने से ब्रह्मैक्यता प्राप्त करती है और मूलाधार में आते ही सो जाती है तब भगवती की अक्षोभ्यरूपिणी शक्ति एक क्षण के निमित्त भी सुप्ता वा अविद्यावृता कैसे हो सकती है?

पञ्चमुद्राविभूषिता

मुद्रा आनन्द को देनेवाली है और इसका सूक्ष्मार्थ कला भी है। कारण निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता पञ्चकलायें हैं, जिनसे सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। भगवती तत्वज्ञानदायिनी सत्वगुणात्मिका है। अतएव इनका आभूषण निवृत्ति, प्रतिष्ठा आदि पञ्चकलाओं का होना स्वाभाविक है। इसका दूसरा तात्पर्य्य पञ्चरश्मि से भी है। पञ्चरश्मि प्रणव को कहते हैं। अतएव पञ्चमुद्रा-विभूषिता प्रणवभूषिता वा प्रणवनामा का द्योतक है। इसका तीसरा गौणार्थ यह है कि यह पञ्चमहाभूतों से विभूषिता है अर्थात्

वियदादि पञ्चतत्वस्थिता है। भाव यह कि आकाश वा प्रथम तत्व तक ही भगवती की स्थिति है अर्थात् भगवती शब्दब्रह्म वा खं ब्रह्म है, जिसका निर्गुणब्रह्म वा काली भगवती में लय पञ्चशून्य के पश्चात् अनिर्वचनीय है।

श्वेतास्थिपट्टिकायुक्ता

अर्थात् उजली हड्डियों की पट्टिका अर्थात् विशेष प्रकार के आभूषण से युक्ता है। यहाँ स्वतः यह शङ्का हो सकती है कि चतुर्दशभुवनेश्वरी को मणिरत्नादि विभूषणों से विभूषिता न कल्पनाकर उजली हड्डियों से विभूषिता क्यों माना गया है। इसका कारण यह है कि अस्थि वा हड्डी प्रलयकाल में सब जीवों के गलित मांस मज्जा आदि रूपी आवरण का द्योतक है। इन हड्डियों का वर्ण शुक्ल है। शुक्लवर्ण शुद्धता का द्योतक है और शुद्धतत्व सत्वद्योतक है। यह प्रणव का वर्ण है। अतएव श्वेतास्थिभूषिता का तात्पर्य्य संक्षेप में सत्वगुणोपेता है। भाग लक्षणा से शुक्लास्थि की वर्ण-समानता विद्युत् से है। विद्युत् ब्रह्म है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि विद्युत् ब्रह्मभूषिता है। विद्युत् आकाश "खं ब्रह्म" को विभूषित करती है।

कराला वा भीषणा

अर्थात् सुदुर्दर्शा है। साधारण शब्दों में डरावनी कहते हैं। इसका यह तात्पर्य्य है कि भगवती नित्या विराट् सत्ता है जिससे जीवों का कहना क्या, देवता तक डरते हैं। परन्तु स्वयं, यह किसी से नहीं डरती है। इसके डर से सूर्य्य उदय होता है, पवन चलता है और अग्नि जलती है। इसी प्रकार संसार में समस्त छोटी-बड़ी क्रियायें इसी के डर से अर्थात् इसी की इच्छा वशवर्त्तिनी होकर होती रहती हैं। इस विशेषण से परब्रह्म का ही

बोध होता है। यही मूलसत्ता वा पराशक्ति है, जिसके अधीन संसार की सभी अपरा शक्तियाँ हैं। अतएव यह दुर्निरीक्ष्या वा सुदुर्दर्शा है। स्थूल रूप में अर्थात् बाह्यरूप से इसका यह अर्थ है कि बड़ी डरावनी होने के कारण यह बड़ी ही कठिनता से अर्थात् बिना वीर हुये देखी नहीं जा सकती है। यह ब्रह्म का परम उग्र रूप है, जो अद्भुत भी है। भगवती उग्रतारा कहलाती है। उग्र वा कराल का सूक्ष्मार्थ महातेजस्वी होने के कारण दुरधिगमत्व है। विराट् रूप भीषण वा उग्र होता ही है। आकाश को भी भीषण कहते हैं। समुद्र को भी भीषण कहते हैं। अतएव भीषणत्व वा उग्रत्व ब्रह्म से विराट् और तेजस्वी रूप के ही व्यञ्जक हैं।

दंष्ट्राकोटिसमुज्ज्वला

अर्थात् चमकती हुई दशन पंक्तिवाली, जिससे ललज्जिह्वा अर्थात् लपलपाती जिह्वा को दाबकर रखा है। उज्ज्वल अर्थात् शुभ्र चमकते हुए का तात्पर्य्य स्वप्रकाश सत्वगुण है। इससे रजोगुणसूचक लाल जिह्वा को दाब रखा है अर्थात् सत्वगुण से रजोगुण का नियन्त्रण कर रखा है। ललज्जिह्वा नित्य प्रकाश का द्योतक है।

त्रिनयना

अर्थात् चन्द्र, सूर्य्य और अग्निरूप वाम, दक्षिण और मध्य-भ्रूमध्य में तीन नेत्रवाली। इसके कई तात्पर्य्य हैं।

पहला तात्पर्य है अन्तर्यामिनी कारण चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि सर्वसाक्षी हैं। इससे तारा भगवती सर्वसाक्षी वा अन्तर्यामिनी है, ऐसा बोध होता है।

दूसरा तात्पर्य्य यह है कि चन्द्र-सूर्य्याग्नि इच्छा-ज्ञान-क्रिया

इस त्रिशक्ति के द्योतक हैं। अतएव इच्छा आदि त्रिशक्तियों को धारण करनेवाली ब्रह्मरूपिणी चित्शक्ति ही हो सकती है।

तीसरा भाव यह है कि चन्द्र सृष्टि का, सूर्य्य स्थिति का और अग्नि संहार वा लय का द्योतक है। अतएव इससे तारा सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी है, यह बोध होता है।

चौथा तात्पर्य्य त्रिकालज्ञता से है, जिससे भगवती अनादि सर्वव्यापिनी नित्य सत्ता है, यह बोध होता है। कारण भूत को देखनेवाली होने से आद्या अर्थ होता है अर्थात् अनादि है। वर्तमान को देखनेवाली होने से सर्वव्यापिनी है। और भविष्य को देखनेवाली होने से नित्यसत्ता है।

पाँचवाँ तात्पर्य्य यह है कि तीनों नेत्रों से क्रमशः तीनों मण्डलों अर्थात् तीनों लोकों को देखती है। तीनों लोकों का सूक्ष्मार्थ है ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयात्मक त्रिलोक वा भुवनत्रय। इनको देखती है अर्थात् अभेदभाव दिखलानेवाली ऋतम्भरा प्रज्ञा है।

छठा तात्पर्य यह है कि त्रिनेत्र से त्रिपुटी, शुद्ध त्रिपुटी, प्रमातृ प्रमाण और प्रमेय का बोध होता है। इससे त्रिनेत्र का यह अर्थ सिद्ध होता है कि भगवती स्वयं प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय है अर्थात् ब्रह्म है, जिसके अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं है।

सातवाँ तात्पर्य यह है कि त्रिनेत्रा से त्रिविधात्मा की ऐक्यकारिका विद्या का बोध होता है। आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये ही तीन प्रकार की आत्माएँ हैं। ये क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और शिव (महेश्वर) हैं।

आठवाँ सोमसूर्यानलात्मक त्रिनेत्रों का सूक्ष्मार्थ मातृकामन्त्र के त्रिखण्डों का द्योतक है। त्रिखण्ड की अधिष्ठात्री देवतायें हैं सावित्री, गायत्री और सरस्वती वा महाकाली, महालक्ष्मी और

महासरस्वती। ये शब्द (शब्दब्रह्म वा खं ब्रह्म) की ऋक्, साम और यजुसरूपी त्रिशक्तियों के द्योतक हैं।

नवाँ त्रिनेत्र वा त्रिदर्शन से अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत इन तीन दर्शनों का सूक्ष्मार्थ बोध होता है, जिससे यह परा विद्या प्रतिपादिता होती है।

चतुर्भुजा

चारों भुजाओं में क्रमशः खड्ग, कर्त्तरिका, कपाल और कमल है—खड्ग विकोष है अर्थात् आवरणरहित वा अपरिच्छिन्न है। तात्पर्य्य कि परिच्छिन्न वा निष्क्रिय नहीं है। यह तत्वज्ञान का द्योतक है, जिससे भगवती अज्ञान का नाश करती है। अर्थात् पुण्य और पापरूपी पशुद्वय का संहारकर मोक्ष देती है। भाव यह कि कर्मबन्धन को, जो पाप और पुण्यजनित ही हैं, ज्ञानरूपी खड्ग से काटती है। इससे आध्यात्मिक ताप का नाश होता है। कर्त्तरिका (कैंची) से भगवती तारा क्षुद्र अर्थात् आधिभौतिक और आधिदैविक तापद्वय का नाश करती है। जहाँ छोटे छोटे स्थानों में खड्ग से प्रहार नहीं हो सकता है, वहाँ पर कैंची से ही काम लिया जाता है। इसको ज्ञानरूपिणी स्फूर्ति भी कह सकते हैं। इसका समन्वय आद्या की अभयमुद्रा से हो सकता है। वस्तुतः काली और तारा में अभेद—भेदाभेद है। कपाल (खोपड़ी) तत्वज्ञानाधार विगत रजोद्योतक है। कपाल की उपयोगिता है पान में। रुधिर वा रक्तरूपी रजोगुण वा मोह का तारा पान करती है। अर्थात् वह जीव (भक्त) के मोह का नाश करती है। कमल का समन्वय वरमुद्रा से है। सर्वश्रेष्ठ वर वा कृपा चित्त को निर्मल करना है। कमल का विशेषण अमल है। इन चारों आयुधों का संक्षेप में यह भी भाव है कि इनसे भगवती लय, विक्षेप, कषाय और

रसास्वादरूपी चारों विघ्नों का नाश करती है। ये विघ्न-चतुष्टय निर्विकल्प समाधि के बाधक हैं। इन चारों विघ्नों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. चित्त की खण्डाकार वृत्ति में अर्थात् पूर्ण द्वैतभाव की निष्क्रिय अवस्था को लय कहते हैं। अर्थात् चित्त की जड़ता लय है। यह दो प्रकार का है—एक वाञ्छित है अर्थात् इष्ट है और दूसरा अवाञ्छित वा अनिष्ट है। प्रथम कल्याणकारी है और दूसरा अकल्याणकारी है। यही दूसरा विघ्नस्वरूप है। प्रथम है परमानंद में चिरकाल अर्थात् अनेक जन्मों में अष्टांग-सहित निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास से लय। और दूसरा है मूर्च्छावस्था जैसा आलस्यवश स्तब्धीभाव-लक्षण निद्रारूप।

२. विषय में राग ही, जो चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति है, विक्षेप है।

३. अखण्डाकार वस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त होने पर पूर्वजन्मार्जित कुसंस्कारों से स्तब्धीभाव को कषाय कहते हैं। अर्थात् सजातीय प्रवाह को भंग कर देनेवाला विघ्न कषाय है।

४. सविकल्पानन्द बाह्य प्रपञ्च-निवृत्तिजन्य आनन्द है अर्थात् चित्तवृत्ति की बहिर्मुखता हटने से जो आनन्द होता है, उसी को रसास्वाद कहते हैं। यह ब्रह्मानन्द अर्थात् अन्तर्मुखी आनन्द से भिन्न है। अतएव ब्रह्मानन्द-प्राप्ति में बाधा करता है। अर्थात् अपूर्ण आनन्द से पूर्णानन्दप्राप्ति के मार्ग में विघ्न होता है।

मुण्डमाला

पचास मुण्डों अर्थात् कटे शिरों की माला। यह पचास वर्णों का द्योतक है। इसका यह तात्पर्य्य है कि भगवती तारा ऊपर से शब्दब्रह्म है।

अट्टाट्टहास

अर्थात् अट्टाट्टहास करती रहती है। इससे यह बोध होता है कि भगवती सदानन्दमयी वा आनन्दब्रह्म हैं। यह तो लौकिक व्यवहार में सर्वत्र और सर्वदा विना अपवाद के देखा जाता है कि आनन्द मात्र से हँसी आती है। अट्टाट्टहास बड़ी जोर की हँसी को कहते हैं। अतएव यह परमानन्द का बोधक है। इससे भगवती जगत् को अभयदान देती है। आनन्दमय करुणामय होता ही है। क्रूर, द्वेषी और कृपण हँसमुख नहीं रहते हैं। ये सदा गम्भीर वा निरानन्द-मुखाकृति के होते हैं। अतएव करुणामयी करुणा की धारा बहाकर जगत् को अभय का वरदान दे रही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि संशयरहित अर्थात् प्रमाणगत और प्रमेयगत संशय से रहित.व्यक्तियों को ही वह अभय देती है। दूसरा तात्पर्य्य इसकी ध्वनि भी है। इससे अखिल चराचर जगत् व्याप्त है। यह नाद है जिसका सदाख्य तत्व है। यह नादब्रह्म प्रणव-संलग्न भी है। इसी हेतु ज्योतिर्मयात्मक है। अतएव अर्धचन्द्राकार है। यह विन्दु-सा है, जिसका आकार पूर्णचन्द्र जैसा है। यह नाद अनेक प्रकार का है। घोर से घोर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर। अट्टाट्टहास इसी महानाद का व्यञ्जक है, जो ब्रह्मप्रणवरूपिणी तारा भगवती का ज्योतिर्मय सन्धान-स्वरूप है। यह ब्रह्म प्रणव नाद भी है। इसमें असंख्य नाद और विन्दु भी लय होते हैं। यहाँ यह शंका होती है कि विन्दु से नाद हुआ है, इस अवस्था में विन्दु किस प्रकार नाद में लीन होगा! इसका समाधान यह है कि विन्दु तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और पर। यहाँ विन्दु से तात्पर्य्य स्थूल और सूक्ष्मद्वय मात्र से है। अतएव अट्टाट्टहास का सूक्ष्मार्थ ब्रह्म प्रणव-सन्धान और

ब्रह्म प्रणव-नाद दोनों है। तीसरा तात्पर्य्य इसके व्यंगार्थ से बोध होता है। भगवती हँसती है, क्यों! हमारे अज्ञान पर हँसती है। हम आनन्दस्वरूप होकर भी व्यर्थ रोते हैं, कलपते हैं और विक्षिप्तवत् आचरण करते हैं; जिसमें हँसना उचित है, उसमें मोहवश रोते हैं और जिसमें रोना उचित है, उसमें हँसते हैं; हम माया के बन्धन पर आनन्दित हो हँसते हैं और माया-बन्धन के अभाव पर रोते हैं। इसी अज्ञान पर आनन्दमयी हँसती है। हम भी तो ऐसा ही करते हैं। नादान बच्चों के गुड़ियों के टूट ज़ाने से रोने पर हम उन पर हँसते हैं।

अष्टनागविभूषिता

इसके भी कई तात्पर्य्य हैं। प्रथम यह अणिमा, लघिमा आदि अष्टसिद्धियों का द्योतक है। नागरूपी इन सिद्धियों को तारा धारण करती है। इसका तात्पर्य है भगवती की अष्टसिद्धि-दातृत्व शक्ति। परन्तु नाग वा विषधर की आकृतिं होने से इनका अवाञ्छितत्व बोध होता है क्योंकि ये सिद्धियाँ परमपद की प्राप्ति में बाधक होने से त्याज्य हैं। दूसरा भाव यह है कि भगवती तारा अष्टनागरूपी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि से विभूषित है। तीसरा भाव है कि ये अष्टनाग अष्टधा प्रकृति के द्योतक हैं। अष्टधा प्रकृति को धारण करनेवाली चित्शक्ति है।

पदार्थदंष्ट्राद्वयविराजमाना

अर्थात् पदार्थरूपी ऊपर और नीचे दोनों की बाहर निकली हुई दशनपं क्तवाली। दशनपंक्ति पदार्थव्यञ्जक है। ऊपर और नीचेवाली दोनों अध्यारोप और अपवादव्यञ्जक हैं और प्रकटित से शोधित , ऐसा बोध होता है। इससे अखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्ति अर्थात् विशुद्ध चित्शक्ति का बोध होता है।

चन्द्रार्धकृतशेखरा

अर्थात् ललाट के ऊपर चन्द्रकला को धारण करनेवाली। ललाट के ऊपर से तात्पर्य्य सहस्रार-स्थित ब्रह्मरन्ध्र के नीचे और ललाट वा आज्ञाचक्र के ऊपर सोममण्डल से है, जहाँ से अमृत की धारा गिरती है। यह चन्द्र भूतचन्द्र नहीं है, किन्तु चिच्चन्द्र है। इससे भगवती का अमृतत्व, जो ब्रह्म का लक्षण है और अमृतकरत्व अर्थात् अमर करनेवाली होने का बोध होता है।

प्रत्यालीढा

अर्थात् वाम पैर आगे और दाहिना पीछे करके खड़ी है। प्रत्यालीढा का लक्षण पूर्व-टिप्पणी में लिख आये हैं। इसका तात्पर्य्य यही बोध होता है कि यह नियन्त्रण करने की एक विशेष मुद्रा है। यह सक्रिय ब्रह्म का लक्षण है। गति में, जो एक गमनशील क्रिया है, स्त्री वा शक्ति का बायाँ पैर ही प्रथम उठता है। इस मुद्रा से तमोगुण और रजोगुण का दमन करके भगवती सत्वावस्था में खड़ी है, यह बोध होता है।

साधारण ध्यानों के निष्कर्ष का यह सूक्ष्म भाव है। मन्त्र-भेद और कामनाभेद के ध्यान से अनेक भेद हैं। इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। ब्रह्मणोपासिता भगवती के "ॐ त्रीं ह्रीं हूं ह्रीं हूं फट्" के ध्यान में आंशिक भेद है। इस मन्त्र के अनुसार इस प्रकार का ध्यान है—

श्वेताम्बरां चन्द्रकान्तिं चन्द्रार्ध-कृतशेखराम्

इत्यादि। अर्थात् शार्दूलचर्माम्बरा के बदले श्वेताम्बरा और नवाम्बुदाभा (नील) के बदले चन्द्र (उज्ज्वलज्योतिर्मय) कान्ति

की है। बस, इतना ही भेद है। यह भेद मन्त्रजन्य है। मन्त्रभेद कामनाजन्य होता है। कामनाभेद वा कर्म (षट्कर्म) भेद से वर्ण (रंग) भेद होता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि निराकारा का ध्यान अपनी अपनी रुचि और प्रयोजन के अनुसार कल्पित है। हम जिस प्रकार उसको देखते हैं, वह हमारे लिये उसी प्रकार की है। हमारी भावना के अनुसार ही वह फल देनेवाली है। अतएव ध्यानाववोध में तर्क का स्थान नहीं है। ध्यान से ब्रह्म-ज्ञान वा ब्रह्मदर्शन होता है।
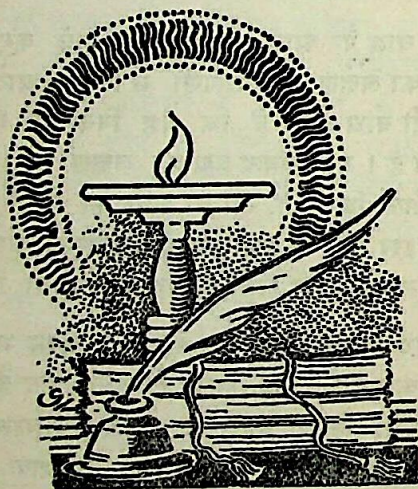
परिशिष्ट

तारा-तत्व का निरूपण हम यथाशक्ति कर चुके हैं। यहाँ हम 'श्रीतारास्वरूपाख्य स्तवराज' को उसकी अपनी टीका और व्याख्या के सहित देते हैं। इससे तारातत्व के निरूपण का प्रामाणिक रूप से स्पष्टीकरण हो जायगा—

श्रीतारास्वरूपाख्य स्तवराज

श्रीकण्ठामरकेशवर्णघटितं चन्द्रार्द्धविन्दूज्ज्वलं,
वीजं यत्परमं गुणत्रयमयं कामप्रदं मुक्तिदम्।
मातः! शङ्करवल्लभे! प्रतिदिनं ध्यायन्ति ये ये सदा,
ते ते यान्ति चिदात्मकं हरिहरब्रह्मादिसाम्यं मुदा॥

टीका—हे शंकरप्रिये माता! श्रीकण्ठ (विष्णु) अर्थात् 'अ', अमरकेश अर्थात् 'उ', इन दोनों वर्णों के संयोग से वना जो वर्ण अर्धचन्द्र और विन्दु ँ से प्रकाशित है, उस सबसे बड़े वीज का, जो तीनों गुणों से उत्पन्न कामनाओं अर्थात् ऐहिक वा सांसारिक कामनाओं और मुक्ति का देनेवाला है, नित्य जो जो चिन्तन करते हैं, वे चित्स्वरूप अथवा ब्रह्मा, विष्णु, शिव के समान ही चैतन्य होते हैं।

व्याख्या—यह भगवती तारा वा शब्दब्रह्म की स्तुति है। स्तुतिकार स्वयं शिव हैं। इनका भगवती को माता और शंकरवल्लभा कहना रहस्य से खाली नहीं है। इससे शिव का अपर-शिव से ही तात्पर्य्य है और माता कहना वाह्य दृष्टि से भी युक्त है क्योंकि कारणत्व का सूचक ही मातृत्व है, जो

जन्महेतु का व्यपदेशत्व है। यह समष्टि मातृत्व और व्यष्टि-मातृत्व दोनों का बोधक है, निरपेक्ष भेद से विश्व-मातृत्व और सापेक्ष भेद से व्यष्टिमातृत्व। मातृशब्द का ब्रह्मपरतत्व सिद्ध है। इसी से अन्तिम वा चरम महाभूत आकाशरूपी शिव की माता तारा भगवती शिव के द्वारा मातृरूप से सम्बोधित की गई है। 'शङ्कर-वल्लभा' का तात्पर्य्य है परमकल्याण करनेवाले अर्थात् त्रिताप से मुक्त करनेवाले की प्रिया अर्थात् समान गुणवाली। शङ्कर से यहाँ पुराण पुरुष वा धर्मी शक्ति वा चित्स्वरूप प्रकृति का तात्पर्य्य है। इससे शक्ति से शक्तिमान् का अभेद सिद्ध है। भगवती प्रणव—अ + उ + ँ = रूपा है। इसको तार वा तारकवीज भी कहते हैं। इसी के स्त्रीलिंगवाचक शब्द तारका का रूप तारा है। ध्यायन्ति का अर्थ है ध्यान करते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य्य है तत्व के निरन्तर मनन से। ध्यान के केवल पढ़ लेने से ही काम नहीं चलता। प्रणव वा वीज के तत्वार्थज्ञान का चिन्तन ही ध्यान है, जैसे रूप-कल्पना के लक्ष्यार्थ का सोचना ध्यान है। ध्यान से मोक्ष और भौतिक तथा दैविक कामनाओं दोनों की प्राप्ति होती है। ध्यान से ही साधक विष्णु अर्थात् ब्रह्म हो जाता है।

व्योमार्णं वामनेत्रान्वितमनलयुतं विन्दुचन्द्रार्धयुक्तं-
वीजं ते गुह्यमेतत्त्रिभुवनजननि त्रिक्षणे ये जपन्ति।
तेषां वक्त्रारविन्दे विहरति मधुरा गद्य-पद्यवाली गी-
र्मातश्चंद्रार्धचूडे सकलभयहरे सिद्धिभाजां नराणाम्॥

टीका—हे तीनों लोकों की उत्पन्न करनेवाली, समस्त दुःखों की हरनेवाली, अर्धचन्द्र को मस्तक पर रखनेवाली माँ! तुम्हारा

गुप्त वीज जो चन्द्रार्धविन्दु (ँ) सहित व्योमार्ण=ह, वामनेत्र=ई, अनल=र-इनके संयोग से बना वर्ण अर्थात् 'ह्रीं' है, उसका जो तीनों समय जप करते हैं—उन सिद्धिप्राप्त मनुष्यों के मुख-कमल में सरस्वती मीठे गद्य और पद्य की धारास्वरूपा हो विचरण करती हैं।

व्याख्या—त्रिभुवन का यहाँ तात्पर्य्य है ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय वा मातृ, मान, मेय तीन अवस्थाओं से। यही व्यष्टि की तीनों अवस्थायें हैं। इनको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति वा विश्व, तैजस् और प्राज्ञ कहते हैं। समष्टि में इनका साधारण अर्थ है स्वर्ग, मर्त्य और पाताल। समष्टि में इनका सूक्ष्मार्थ है ब्रह्म के त्रिरूप—अशुद्ध, मिश्र वा शुद्धाशुद्ध और शुद्ध। 'सकलभयहरा' के दो अर्थ हैं। एक समस्त भयों अर्थात् आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिक तीनों तापों की हरनेवाली और दूसरा सकल अर्थात् सब जीवों के भयों की हरनेवाली। 'विन्दुचन्द्रार्ध-युक्तम्' के भी कई तात्पर्य हैं। यह नादविन्दु का द्योतक है जैसा इसका रूप है। संक्षेप में अर्धचन्द्र का तात्पर्य अमरकारिणी शक्ति से है और विन्दु का घनीभूता चिदचित् शक्ति से। इसी विन्दु से नाद और वीज की उत्पत्ति है। यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूपों के परे तुरीय रूप का द्योतक है। 'माता' शब्द की पुनरुक्ति है। यह व्यष्टिमातृत्व का बोधक है। यह भक्तियोग के सम्बन्ध-स्थापन की क्रिया को दिखाता है। तान्त्रिक साधना में यह विशेषता है कि उसमें प्रायः सभी दार्शनिक भावों को भक्तियौगिक रूप देकर ब्रह्मविद्याओं की प्रतिपत्ति की गई है। भक्तियोग में सम्बन्ध-स्थापन अत्यन्त आवश्यक है और सभी सम्बन्धों में माता-पिता के दो सम्बन्ध ही प्रमुख हैं। इन दोनों में भी माता का सम्बन्ध श्रेष्ठ है। 'ह्रीं' वीज का भाव संक्षेप में

इस प्रकार है—आकाशद्योतक 'ह' का तात्पर्य है सृष्टि, वह्नि-द्योतक 'र' का संहार और 'ई' (वाम नेत्र में है, इसी से मातृका-न्यास में 'ई' का वायें नेत्र में न्यास होता है) का तात्पर्य स्थिति है। अतएव 'ह्रीं' वीज त्रिशक्त्यात्मक तुरीय ब्रह्म और नादविन्दु से युक्त होने से तुरीयातीत वोधक है। 'गुह्य' से तात्पर्य है वीज के सूक्ष्मार्थ से। 'त्रिक्षणे' अर्थात् तीनों समयों का वाच्यार्थ प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल की त्रिसन्ध्या है परन्तु भाव है जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से। 'जप' का तात्पर्य यहाँ मानसिक जप से है क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में केवल यही हो सकता है, अन्य प्रकार के जप नहीं। जप मन्त्रार्थ का चिन्तन है न कि केवल मन्त्र का उच्चारण। इसी चिन्तन से अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस जप वा चिन्तन से जीव के ऐसे तादात्म्य भाव हो जाते हैं कि उसकी समस्त क्रियायें देववत् हो जाती हैं।

शुक्रार्णं पूतनास्थं कलितशशिकलाविन्दुभूषं सवह्नि-
भ्राजद् वामाक्षियुक्तं जननि तव बधूवीजमेतज्जपंति।
ते ते लोलेक्षणानां विगलितरसनापीनवक्षोजवासः
केशानां चित्तमाशु स्मरहरमहिले मोहयंति प्रकामं॥

टीका—हे माता! तुम्हारा शुक्र=स, पूतना=त, वह्नि=र, वामाक्षि=ई इनके संयोग से वना वीज जो शशिकला विन्दु से भूषित है, उस वधू नामक 'स्त्रीं' वीज को जो जपते हैं, हे कामदेव के नाश करनेवाले (शिव) की स्त्री! वे चञ्चल नेत्र-वाली रमणियों को, जिनके ऊर्द्ध और अधोवस्त्र तथा केश वन्धनों के शिथिल हो जाने से गिर गये हैं, मोहित करने में जल्दी और इच्छानुसार समर्थ होते हैं।

व्याख्या—वधूवीज 'स्त्रीं' का यथार्थ रूप केवल 'त्रीं' है। यही भगवती तारा का सबसे प्रधान वीज है। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने जब इस महाविद्या की आचार-विरुद्ध साधना की, जिससे उन्हें सिद्धि नहीं प्राप्त हुई तो उन्होंने इस वीज को शाप दे दिया कि इस वीज द्वारा महाविद्या किसी को सिद्ध न हो। परन्तु बाद में भूल समझकर शाप का उद्धार इस प्रकार किया कि यह शाप कृष्णावतार तक ही लागू होगा और तब तक के लिए इस वीज में 'सकार' युक्त कर देने से यह शाप दूर हो जावेगा। इसका वधू नाम इसलिये पड़ा कि स्त्री की यह पर्य्यायवाचक संज्ञा है और वधू की तरह फलदायिनी है। 'स्मरहर' अर्थात् काम के नाशक का भाव है मलिन वासना का नाशक यथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान होने से अर्थात् शुद्ध वासना के उदय होने से अपर-काम का स्वतः नाश हो जाता है। इसी का पौराणिक कथानक रूप है महादेव के तृतीय ज्ञानचक्षु के तेज वा बुद्धि से कामदेव अर्थात् अपर-कामपुञ्ज का दहन। 'लोलेक्षणानाम्' अर्थात् 'चंचल नेत्रवालियों' का तात्पर्य थोड़े समय तक रहने-वाली सिद्धियों से है। ये सिद्धियाँ बड़ी चञ्चल होती हैं। योगी को योगभ्रष्ट कर हट जाती हैं। वधूवीज के यथार्थ जप से साधक इनको अपने वश में रख लेते हैं ताकि ये इनको भ्रष्टकर भाग न जायँ। 'विगलितरसना', 'पीनवक्षोजवासः' और 'केशानाम्' का तात्पर्य है सिद्धियों से, जो अपने आवरण बन्धन के टूट जाने से साधक से दूर हो गई हैं। साधक जान जाता है कि ये सिद्धियाँ वस्तुतः उस परमानन्दरसामृत के सामने अति तुच्छ हैं। इसीलिये वह स्वयं उनके वश में न हो उन्हीं को अपने वश में रखता है।

ईशानं वामकर्णोल्लसितशशिकलाविन्दुयुक्तं प्रगृह्यं
वीजं मातस्त्वदीयं यदि जपति जनो वारमेकं जडात्मा

चञ्चत्पञ्चाशदुग्रग्रथितनरशिरो मालिकाक्रान्तकण्ठे
मातः शैलेन्द्रपुत्रि त्रिभुवनमपि संक्षोभयत्येव शीघ्रम्

टीका—हे हिमालयकन्ये ! पचास नरमुण्डों की माला धारण करनेवाली मां ! ईशान वा शिववीज 'ह' वामकर्ण वा 'ऊ' अर्थात् 'हू' शशिकला और विन्दु अर्थात् ँ से युक्त 'हूँ', तेरे इस गुप्त वीज का जो एक वार भी जप करता है, वह तीनों लोकों को सम्यक् प्रकार से शीघ्र ही क्षुभित कर सकता है अर्थात् उनकी अवस्था बदल दे सकता है।

व्याख्या—'शैलेन्द्रपुत्रि' दार्शनिक सूक्ष्मभाव की साहित्यिक कल्पना है। इसका भाव आनन्द वा अमृतलहरी हैं। सहस्रार-स्थित सोममण्डल का ही व्यञ्जक है हिमगिरि। कवियां ने उससे उत्पन्न लहरी वा धारा को ही हिमगिरि-सुता कहा है अन्यथा तीनों लोकों की जननी पर्वतराज की कन्या कैसे हो सकती है ? यह कवियों की कल्पना और साहित्यिक अलंकार है। इस अलंकार-रहस्य का ज्ञान गम्भीर अनुसन्धान से ही होता है अन्यथा यह अविश्वास का कारण हो जाता हैं। पचास नरमुण्डों की माला से तात्पर्य है पचास वर्णों से न कि मनुष्य के मुण्डों से। भगवती नित्या है अर्थात् वह मानव जाति की सृष्टि के पूर्व भी थी और लय के पश्चात् भी रहेगी। इस अवस्था में उसको मनुष्य क्योंकर मिले और मिलेंगे, जो इनको मारकर मुण्डों की माला पहनेगी ? फिर भगवती सबकी मा है। वह क्या अपनी सन्तानों को मारकर मुण्डमाला बनावेगी ! ऐसा विचार साधारण वुद्धिवाला भी न करेगा। शास्त्रों में इसका मतलव साफ साफ वर्णमाला लिखा है। 'प्रगुह्यं' ('सुगुह्यम्' भी पाठ है) का तात्पर्य श्रेष्ठ भाव से गुह्य है। अन्य वीज केवल गुह्य हैं अर्थात् छिपे भाववाले हैं

परन्तु यह वीज विशेष प्रकार से छिपे भावों का रखने-वाला है। इसका कारण यह है कि भगवती ने आदि में अपने को इसी वीज में प्रकट किया है। माता तारा हुंकार-वीजोद्भवा है। यही वीज ध्वनि, नाद आदि संज्ञाओं से कथित है। अव्यक्त ब्रह्म इसी के द्वारा सर्वप्रथम नाद के रूप में व्यक्त होता है। अतएव तारा भगवती शब्दब्रह्म के अतिरिक्त और नहीं है। 'वारमेकं' अर्थात् एक वार का तात्पर्य वड़ा रहस्यमय है। इससे जपक्रम का वोध होता है। यह उस जप का द्योतक है, जिसकी एक आवृत्ति ही सर्वदा के लिए तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर देती है। तभी साधक ऐसा प्रतिभाशाली हो सकता है कि तीनों लोकों को डाँवाडोल कर दे।

पश्चादस्त्रं तदन्यत् पुरहरमहिले! वीजमत्यन्तगुह्यं
भालोद्यत् पञ्चमुद्रे प्रकटविकटदंष्ट्रोग्रवक्त्रारविन्दे।
नित्यं ये भावयन्ति प्रतिदिनममले! घोररूपाट्टहासे
ते नूनं भ्रामयन्ति त्रिजगदघहरे चक्रवद् विश्वमेतत्॥

टीका—हे पुर के हरण करनेवाले अर्थात् शिव की स्त्री! हे मस्तकप्रदेश में पञ्चमुद्राओं को धारण करनेवाली! हे निकले विकट दांतों से उग्र मुखकमलवाली! पूर्वोक्त वीजों के वाद अत्यन्त गुप्तवीज अस्त्र अर्थात् फट् का रोज जो चिन्तन करते हैं, वे अवश्य इस विश्व को पहिये के सदृश घुमाते हैं।

व्याख्या—यहाँ शिव का विशेषण है पुरों का हरनेवाला। इसका पौराणिक कथानक यह है कि त्रिपुर नामक एक असुर को शिव ने मारा था। तभी से शिव पुरहर वा त्रिपुरहर कहलाने लगे। परन्तु इसका दार्शनिक तात्पर्य है तीनों पुरी वा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के परे पर शरीरवाले शिव से अथवा

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं से तुरीयावस्थापन्न शिव वा ब्रह्म से। इनकी स्त्री वा शक्ति को पुरहरमहिला कहते हैं। व्यष्टि में ऐसे संसिद्ध जीवन की शक्ति को कहते हैं। पञ्च-मुद्राविभूषिता के कई तात्पर्य हैं। इससे भगवती तारा पञ्च-ब्रह्मात्मिका है, ऐसा बोध होता है। पञ्चब्रह्मात्मिका से चित् और अचित् ब्रह्मरूपिणी वा उभयपरिणामिनी नित्या सत्ता का बोध होता है। निकले दाँत का तात्पर्य स्वप्रकाश सत्वगुण-सूचक उजली दन्तपंक्ति से है, जिससे लाल और लोल अर्थात् चञ्चल जिह्वा को, जो रजोगुण का द्योतक है, दवा रखा है। अमला अर्थात् मलरहिता से तात्पर्य है विशुद्ध सत्वगुणात्मिका से। 'घोररूपाट्टहासा' का तात्पर्य सदा आनन्दमयी है। 'त्रिजगदघहरा' का साधारण तात्पर्य ऊपर के रहनेवाले देवगणों, मध्य के रहनेवाले मानवों और नीचे रहनेवाले राक्षसों के भी पाप हरनेवाली से है, परन्तु इसका भाव है ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय-रूपी त्रिपुरी भाव को हरनेवाली तुरीया ब्रह्मविद्या से। 'फट्' को अस्त्र इसलिए कहा गया है कि इससे अविद्या को मार भगाया जाता है। इसको मन्त्रपल्लव भी कहते हैं। मन्त्र के छः पल्लव हैं—नमः, स्वाहा, वषट्, इत्यादि। इसी हेतु 'पश्चात्' का यहाँ निवेश है। जैसे अन्य वीज स्वतन्त्र भी जपे जाते हैं वैसे 'फट्' का जप नहीं है। विश्व का चक्रवत् भ्रमण सार्द्ध पञ्चाक्षरमन्त्र 'ॐ ह्रीं स्त्रीं हूं फट्' का, जो इस महाविद्या का मन्त्रराज है, फलस्वरूप वर्णन है। विश्वभ्रामण से काल से मुक्ति का तात्पर्य बोध होता है।

माया-स्त्रीकूचवीजैर्नवतपन हरित्सार्द्धचन्द्रांशुवर्णे !
मातर्नीलाख्यमेतत्तव मनुमनिशं ये प्रकामं जपन्ति ॥

वित्ते वित्तेशतुल्याः सुरगुरुसदृशास्तर्ककाव्यागमादौ
ते ते नीलांबुदालीरुचिरुचिरतनो! कामरूपा भवन्ति ॥

टीका—हे उदयकालिक सूर्य के वर्णवाली चन्द्रिका-समान शीतल ज्योतिरूपिणी मा! माया=ह्रीं, स्त्रीं और कूर्च=हूं, इस प्रकार बने 'ह्रीं स्त्रीं हूं' नीलाख्य मन्त्र का जप जो सर्वदा पर्याप्त रूप में करते हैं, वे, हे नवीन मेघ की कान्ति-सदृश सुन्दर शरीर-वाली! धन में कुवेर के समान, तर्कशास्त्र, काव्य और आगम में देवताओं के गुरु वृहस्पति के समान और इच्छा के अनुसार रूप धरनेवाले अर्थात् सिद्ध योगी हो जाते हैं।

व्याख्या—इसमें तीन रंग तीनों वीजों के वर्ण के विशेष स्वरूप कहे गए हैं। मायावीज लाल है, स्त्री हरित और कूर्च अर्द्धचन्द्र के समान धवल है। नीलवर्ण से शुद्धसत्वगुणात्मक घन तेजोमय चिदाकाश का तात्पर्य वोध होता है अर्थात् भगवती एकत्रित शुद्धसत्वगुण के प्रकाश-स्वरूप चिदाकाश-स्वरूपिणी है। इसकी उपमा 'अंबुद' से की गई है। अंबुद का अर्थ अम्बु अर्थात् जल का देनेवाला है। जल है ज्योति, प्राण वा अमृत वा अमरत्व देनेवाला इत्यादि। उपमा से यह वोध होता है कि जिस प्रकार नीलमेघ तप्त पृथ्वी को जल की वृष्टि से शीतल करता है, उसी प्रकार भगवती अपनी करुणा-रूपी अमृतधारा वा आनन्द की लहरी से त्रितापदग्ध जीवों के तापों को हरकर उन्हें शीतल करनेवाली है। इस पद्य में कथित तीनों वीजों से तारा के चैतन्यरूप नीलसरस्वती का प्रधान मन्त्र वनता है। सरस्वती के उपासक केवल विद्वान् होते हैं परन्तु इस नीलसरस्वती के उपासक विद्वान् ही नहीं कुवेर के समान धनवान और प्राकाम्य (इच्छानुसार रूप बदलना) सिद्धिवाले भी हो जाते हैं।

भवान्येभिर्बीजैर्हिमगिरिसुते ! चास्त्रसहितै—
र्निगूढं ये मातस्तव मनुं जपन्त्येकजटिले !
त्रियामानाथार्धप्रविलसितभाले ! त्रिनयने !
गृहे तेषां नित्यं निवसति मुदा सिन्धुतनया ॥

टीका—हे भवानी, हिमालय की पुत्री ! माता एकजटे ! पूर्वोक्त (तीनों) वीजों को अस्त्र=फट् से युक्त करके जो नितरां गुप्त भाव से जपते हैं, हे चन्द्रार्धशोभितमस्तके ! हे तीन लोचन-वाली ! उनके घर में लक्ष्मी सदा वास करती है।

व्याख्या—इस पद्य में एकजटा भगवती का अर्धचतुरक्षर मन्त्र और उसके रहस्यभाव से जप करने का फल वर्णित है। भवानी का अर्थ भव की शक्ति है। भव शिव का एक नाम है। भव विश्व को भी कहते हैं। शिव विश्व हैं अर्थात् विश्वरूप हैं। विश्व जिस शक्ति से उत्पन्न है, जिस शक्ति द्वारा इसकी स्थिति है और जिसमें इसका लय है, उसी को भवानी कहते हैं। एक-जटा का भाव है वह महाशक्ति, जिसने तीनों गुणों को सत्वगुण में एकत्रित कर रखा है अर्थात् जो शुद्धसत्वगुणात्मिका है। 'निगूढम्' का अर्थ बिलकुल गुप्त है। मानसिक जप तीन प्रकार से गुप्त होता है। परा-जप ही निगूढ़ है। इससे कम पश्यन्ती और इससे भी कम मध्यमा है। 'नित्यम्' का अर्थ सर्वदा है। यह इसलिये कहा गया है कि लक्ष्मी चञ्चला है किन्तु इस मन्त्र को 'निगूढ़' भाव से जपने से वह स्थिरा हो जाती है। लक्ष्मी विज्ञानशक्ति को कहते हैं।

अमीभिर्बीजैस्ते प्रणवसहितैः शैलतनये ।
निजस्वान्ते सास्त्रं परिजपति पञ्चाक्षरमिति ॥

स सिद्धः स त्यागी स तु पुरहरोऽसौ मुरहरः ।
स धाताऽसौ मुक्तो भवति हि चिदानन्दरसिके ॥

टीका—हे पार्वती ! जो प्रणव वा ॐकारयुक्त नीलसरस्वती के पञ्चाक्षर रूप वीजों (तीनों वीजों) के अन्त में अस्त्र-वीज वा 'फट्' देकर अन्तःकरण में जपता है; वही, हे ब्रह्मानन्द-रस की चखनेवाली ! सिद्ध है, त्यागी है और मुक्त है । अधिक क्या, वह साक्षात् पुर के हरनेवाले शिव, मुर राक्षस के मारने-वाले विष्णु और ब्रह्मा के समान है ।

व्याख्या—इस पद्य में तारा भगवती का सार्धपञ्चाक्षर मन्त्रराज और इसके मानसिक जप का माहात्म्य कहा गया है । मन्त्रराज देवता के सर्वप्रधान मन्त्र को कहते हैं । प्रत्येक देवता का एक मन्त्रराज होता है । इससे देवता का पूर्णरूप ज्ञात होता है, जो वीज मात्र से नहीं ज्ञात होता । मन्त्र और वीज में यही भेद है कि वीज पदार्थ की संकुचित अवस्था का द्योतक है और मन्त्र विकसित अवस्था का । जिस प्रकार नीलसरस्वती, एकजटा और उग्रतारा इन तीनों का संयुक्त रूप तारा भगवती हैं, उसी प्रकार साढ़े पाँच अक्षरों का यह मन्त्र पूर्वोक्त तीनों महाशक्तियों के संयुक्त वीजों से वना है । 'परिजपति' का तात्पर्य विशेष प्रकार के जप से है । यह जप मण्डल-क्रम से हृदय के गुह्य से गुह्य स्थान में होता है । संक्षेप में इसका तात्पर्य कुण्डलीसूत्र से ग्रथित वर्णमाला में निरन्तर जप करने से है । ऐसा जप निद्रा में भी होता रहता है । सिद्धि से तात्पर्य मन्त्रसिद्धि वा देवता के साक्षात्कार से है । त्यागी से कर्मफल-त्यागी और मुक्त से जीवन्मुक्त से तात्पर्य है । त्याग के बिना शान्ति वा मुक्ति नहीं होती है और बिना सिद्धि त्यागी हो नहीं सकता । सार की प्राप्ति होने पर ही असार की त्यागबुद्धि

आती है। ऐसे ही सिद्ध साधक शिव वा क्रियाशक्ति, विष्णु वा ज्ञानशक्ति और ब्रह्मा वा इच्छाशक्ति के समान होते हैं।

शवासीनां कण्ठे कलितनृकरीटीं करलसत्,
कपालासिश्यामोत्पलरुचिरकर्त्रीं त्रिनयनाम् ॥
नवाम्भोदश्यामां विकटरदभीमां पृथुकुचां,
सदैव त्वां ध्यायन् जननि! स जड़ो वाक्पतिसमः ॥

टीका—हे माता! शव पर सवार, गले में मुण्डमाला धारण किये हुये, हाथों में खप्पर, तलवार, कैंची और नीलकमल लिये हुये, तीन आँखवाली, विकट दाँतों के कारण भयानक, उन्नतस्तनवाली, नवीन मेघ के सदृश श्यामवर्णवाली तुम्हारा जो सर्वदा ध्यान करता है, वह मूर्ख भी बृहस्पति के समान होता है।

व्याख्या—इस पद्य में भगवती का ध्यान और उसके फल का वर्णन है। ध्यान पढ़ लेने ही से काम नहीं चलता है। ध्यानों के आध्यात्मिक तात्पर्य का जानना आवश्यक है। इसके विना ध्यान नहीं होता। इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

तटे नद्याः सिन्धोर्गिरिशिरसि मालूरगहने,
श्मशाने गोष्ठे वा गिरिशभवने शून्यसदने।
हविष्याशी लक्षं प्रजपति वशीभावनपरः,
स सर्वज्ञो वाग्मी भवति सुजनो पीनजघने ॥

टीका—हे विशाल नितम्बवाली! जो हविष्यभोजी, जितेन्द्रिय, ध्यान में लीन हो नदी या समुद्र के तट पर या

पर्वतशिखर, विल्व के वन, श्मशान, गोशाला अथवा शिवालय में या एकान्त में लक्ष वार मन्त्र का जप करता है, वह सब कुछ जाननेवाला, वक्ता और सुन्दर पुरुष होता है।

व्याख्या—इस पद्य में मन्त्रसाधन का स्थान, उसकी मुख्य विधि और जपसंख्या माहात्म्य-सहित वर्णित है। हविष्य है सत्व-रसवर्द्धक भोजन। भोजन साधनोपयोगी मानस भाव के अनु-कूल रस उत्पन्न करनेवाला ही होना चाहिए क्योंकि जैसे मन का प्रभाव शरीर वा इन्द्रियों पर पड़ता है, वैसे ही शारीरिक प्रभाव मन पर पड़ता है। सत्वगुणाश्रित साधनाओं के लिए हविष्य वा निरामिष भोजन ही प्रशस्त है। बिना 'वशी' हुए वा इन्द्रियों को वश में रखे 'भावनपरः' अर्थात् भावना वा चिन्तन में साधक लीन नहीं हो सकता है। और जब मन वश में आता है तभी इन्द्रियों का निग्रह होता है। 'भावनपरः' होकर ही जप करना चाहिए। ध्यानरहित जप विडम्बना मात्र है। 'सर्वज्ञ' का मतलब सब शास्त्रों का जाननेवाला है। विशेष प्रकार के स्थानों से निःसङ्गता का वोध होता है। आध्यात्मिक साधन में सङ्ग वर्जित है।

मुदा मातः ! शुद्धोदकरुचिरगन्धाक्तसलिलैः
स्वयम्भूपुष्पस्रक्कुलतनुभगक्षालितजलैः ।
शिवे ! त्वां संध्यायन् हरमहिषि ! सन्तर्पयति यः
सदैव स्त्रीवृन्दं वशयति स्म विद्याधरपतिः ॥

टीका—हे माता ! जो शुद्ध जल में सुन्दर गन्धों से वासित द्रव्य से, (अथवा) अपने आप होनेवाले फूलों की धारा (विश्व) कुलस्वरूप जननेन्द्रिय के परिष्कृत द्रव्यों से, हे शिव की शक्ति ! हे शिवस्वरूपे ! तुम्हारा सम्यक् प्रकार से ध्यान करते हुये

सम्यक् प्रकार से तर्पण करता है, वह 'विद्याधरों का स्वामी होता है और कामिनीगणों को सर्वदा अपने वश में कर लेता है।

व्याख्या—इस पद्य में स्थूल और सूक्ष्म भाव के तर्पण का उनके फल-सहित उल्लेख है। स्थूल है मन्दाधिकारियों के लिए और सूक्ष्म मध्यम तथा उत्तम अधिकारियों के लिए है। मध्यमाधिकारी विषय के भाव को लक्ष्य में रख वाह्य क्रिया करते हैं और उत्तमाधिकारी ज्ञान या लय योगक्रम से मानसिक क्रिया अथवा हठयोग के अन्तर्गत कुण्डली-योगक्रम से यथार्थ क्रिया का सम्पादन करते हैं। तर्पण का स्थूल अर्थ है प्रसन्न करना और आध्यात्मिक तात्पर्य है आत्मा और ब्रह्म में अभेद-भावना। यह अभेद-भावना तभी होगी जब साधक को तर्पण-द्रव्य के रहस्य का ज्ञान होगा। साधारणतया विशेषार्घ्य के अमृत से देवता का तर्पण होता है। यह विशेषार्घ्यामृत विशेष ज्ञान का द्योतक है। शुद्ध जल से मन्त्र-शोधित जल से तात्पर्य है। उदक और सलिल दोनों का अर्थ जल है। अतएव सलिल से तात्पर्य है नारिकेलोदक, घृत, मधु, शर्करोदक इत्यादि द्रवित पदार्थ और रुचिरगन्धाक्त से तात्पर्य है कस्तूरी, कर्पूर, चन्दनादि सुगन्धित विहित पदार्थों से। 'स्वयम्भूपुष्पस्रक्' का भाव विश्वोत्पादक महद्योनि की रजोगुणात्मक धारा अथवा व्यष्टि में कुण्डलीयोगानुसार मूलाधार-स्थित मातृयोनि के अग्निमण्डल की रक्तज्वाला है। कुल शक्ति का अर्थात् रजो द्योतक है। इसी प्रकार अकुल शिव का द्योतक है। संक्षेप में विश्वमातृ-योनि की रजोधारा को सत्वगुणात्मक जल-सम्वित् में मिलाकर जीव और शिव के ऐक्य (तर्पण) की भावना करना ही तर्पण है। भग का एक अर्थ ऐश्वर्य है, इसी से ईश्वर को भग-वान् कहते हैं। इस रजोगुणात्मक ऐश्वर्य को सत्वगुण से हटा-

कर जीव अपने को शिव समझता है। 'सन्ध्यायन्' का अर्थ है असली रूप का ध्यान करते हुये और 'सन्तर्पयति' का अर्थ है सम्यक् प्रकार से तर्पण अर्थात् ऐक्य की भावना करते हुए। विद्याधर का यहाँ अर्थ है महाविद्या वा ब्रह्मविद्या वा मधुविद्या-सिद्ध पुरुष वा ज्ञानी। ऐसे विद्याधर का पति वा प्रधान होना आध्यात्मिक भावापन्न परातर्पण का फल है। बाह्य तर्पण का फल है सिद्धियों की प्राप्ति। 'स्त्री' वृन्द का तात्पर्य सिद्धियों से है न कि साधारण स्त्रियों से। स्त्री-समूह को वश में करना ता लम्पटता है, जो किसी भी शास्त्र के विरुद्ध कार्य है।

जवापुष्पैर्बिल्वैर्मरुवकुलमुख्यैश्च कुसुमैः
सुगन्धैः कर्पूरैरगरुसहितैर्धूपनिकरैः !
प्रदीपैरुज्ज्वालैर्घृतरचितनैवेद्यनिकरै—
स्तवार्चां यः कुर्य्यात् स भवति हि पूज्यः क्षितिपतेः॥

टीका—जो तेरी पूजा गुड़हल, विल्वपत्र, मरु, मौलसरी आदि प्रधान फूलों, कपूरयुक्त अगर आदि सुगन्धित धूपों, उज्ज्वल दीपों और घी से बने नैवेद्यों से करता है, वह राजाओं से सम्मानित होता है।

व्याख्या—पूजा से यहाँ मिश्रपूजा अर्थात् पराऽपरा पूजा से तात्पर्य है। पराऽपरा पूजा में बाह्य क्रियायें रहती हैं। पुष्प मनोवृत्ति का द्योतक है। अहिंसा, दम, दया, क्षमा और ज्ञान ये ही पाँच प्रकार के पुष्प हैं, जिनसे जगज्जननी की वास्तविक पूजा अर्थात् तादात्म्य प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त १ अमा-यता, २ अनहंकारता, ३ अराग, ४ अमद, ५ अमोह, ६ अदम्भ, ७ अद्वेष, ८ अक्षोभ, ९ अमात्सर्य और १० अलोभ ये दस पुष्प और हैं। पुष्प-समर्पण का भाव है—अपने शरीर के भूताकाश

के अंश को चित्‌शक्ति को समर्पण कर अर्थात् उसी से अपने शरीर के भूताकाश भाग को ओतप्रोत समझकर अपने को चैतन्यरूप समझना। धूप-समर्पण का भी यही सूक्ष्म अर्थ है। भेद इतना ही है कि धूप को अपने शरीर का वायव्य भाग समझे। दीप में अपने शरीर का तेजोभाग और नैवेद्य में रस वा अमृतभाग की जड़ता समर्पित होती है। तभी चिन्मात्रता रह जाती है।

स दूर्वाभिः पद्मैस्त्रिमधुललितैः श्रीफलदलै—
घृतैर्गव्यै रक्तैः सुकुलभगलिंगामृतरसैः।
त्रिकोणे कुण्डे यां हुतवहमुखे होमविधिना
जुहोति त्वां मातः! स भवति कवीन्द्रः क्षितिपतिः॥

टीका—हे माता! जो दूर्वाओं, त्रिमधु अर्थात् शकर, घी और मधु से सने पद्मों, गाय के घी से सने विल्वदलों और सुकुल-भगलिंगामृत नामक रक्त और शुक्र मिश्रित द्रव्य से त्रिकोणाकार कुण्ड में हवन-विधि के अनुसार अग्नि के मुख में हवन करता है, वह कवियों का राजा और भूपति होता है।

व्याख्या—इस पद्य में पूजा के एक विशेष अंग हवन, हवनीय द्रव्य और हवन के फल का उल्लेख है। होम का अर्थ त्याग है। यह त्याग पदार्थ का नहीं किन्तु भाव का होता है। इसका आध्यात्मिक तात्पर्य कामादि मनोवृत्तियों के भस्मीकरण से है। वाह्य हवन अन्तर्हवन अर्थात् ज्ञानाग्नि में मन के संकल्पों के त्याग का द्योतक है। दूर्वा (दूब) सब पुष्पों के समान है। त्रिमधु त्रिगुण का द्योतक है, जिसमें सने कमल के फूल अर्थात् विश्वभाव वा इदन्ता भाव को हवन वा लय करना होता है। विल्वदल से भी, जो तीन पत्तों का एक दल

होता है, त्रिगुण से तात्पर्य है। इस त्रिपुटी को गोघृत से विशुद्धकर अर्थात् इन्द्रियों (गो इन्द्रिय को भी कहते हैं) की तन्मात्राओं के साथ भस्मीकरण कर्त्तव्य है। रक्त से रजोगुणात्मक भावों से तात्पर्य है। रक्त और शुक्र मिश्रित सृजन पदार्थ का भाव है सृजक से सृष्टि का भेदभाव। इस द्वैतभाव का लय करना ही उक्त पदार्थ से हवन करने का तात्पर्य है। कुण्ड अनेक प्रकार के होते हैं। गोल कुण्ड अखण्डाकारवृत्ति का और त्रिकोणाकार कुण्ड विशुद्ध त्रिपुटी का द्योतक है। इसी भाव से हवन करनेवाला कवीन्द्र अर्थात् शब्दब्रह्म का ज्ञानी और क्षितिपति अर्थात् संसार का स्वामी अर्थात् ब्रह्म होता है।

निशीथे कल्याणि ! प्रमुदितमना यः पितृवने
बलिं ते मेषाद्यैः स नरमहिषैर्वा परिचरेत् ।
स राजानं क्षिप्रं वशयति मृगाक्षीसमुदयं
त्रिलोकीं वा भूमौ स भवति नरः सत्कविवरः ॥

टीका—हे कल्याणरूपे ! जो प्रसन्नचित्त हो आधी रात को श्मशान में तुझे मेढ़े आदि वा मनुष्य के साथ भैसों की बलि देकर तेरी पूजा करता है, वह जल्दी ही राजा, मृगनयनियों और तीनों लोकों को भी अधीन करता है और संसार में बड़ा भारी कवि होता है।

व्याख्या—इसमें गुप्त साधन-प्रक्रिया का उल्लेख है, जिसके अधिकारी विरले ही हैं। 'कल्याणी' शिवा की पर्य्यायवाचक संज्ञा है। कल्याण का साधारण अर्थ दुःख से निवृत्ति है। यहाँ दुःख से जन्ममरण के दुःख से तात्पर्य है। अर्थात् कल्याणी से मोक्षदायिनी से तात्पर्य है। 'प्रमुदित' का अर्थ आनन्दित

है। भगवती आनन्दमयी है। इस हेतु उसकी पूजा विना साधक के आनन्दित हुये नहीं हो सकती है। यहाँ पूजा के भाव अद्वैत वा विशिष्टाद्वैत मात्र हैं। दुःखी वा निरानन्द भी पूजा करता है अपने दुःख की निवृत्ति के हेतु। ऐसी पूजा शुद्ध द्वैत भाव की है। निशीथ अर्थात् आधीरात का स्थूल अर्थ है मध्यरात्रि का समय किन्तु इसका भाव है सुषुप्ति अवस्था वा प्राज्ञावस्था। प्राज्ञ ही ऐसी पूजा कर सकता है। पूजा का स्थान श्मशान है। इस पद्य का आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि प्राज्ञ श्मशान में अर्थात् शुद्ध हृदय से, जिसमें कामादि सभी आसुरी सङ्ग भस्म हो गए हैं, आनन्दावस्था में मोहादिरूपी मेषादि पशुगुणों वा अहंकार वा जीवभाव के साथ महिष-व्यञ्जित क्रोधसर्गों की वलि देकर अर्थात् उन्हें दूर करके कल्याण-मयी की पूजा अर्थात् भगवती से आत्मैक्य की साधना करता है।

महापूजां मातस्तव वितनुते यस्तु मधुना
तथा मांसैर्मत्स्यैर्विविधनवमुद्रादिभिरपि ।
वरस्त्रीभिः सार्धं निधुवनविनोदेन मुदितो
निशीथे संसारात्स भवति विमुक्तः पशुभयात् ॥

टीका—हे माता! जो आनन्दित हो मध्यरात्रि के समय स्त्रियों के साथ सुरत-प्रमोदित हो मद्य, मांस, मछली और नौ प्रकार की मुद्राओं से तुम्हारी सबसे बड़ी पूजा विस्तृत-रूप से करता है, वह पशुपाशरूप संसार के वन्धन से छूट जाता है।

व्याख्या—इस पद्य में आनन्दमार्ग वा वीरभाव और दिव्यभाव की साधना का उल्लेख है। वीर साधक

स्थूल पदार्थों और क्रियाओं के भाव को ध्यान में रखते हुये ही स्थूलरूप की क्रिया करते हैं और दिव्य साधक ज्ञानयोग अथवा हठयोग-द्वारा पञ्चतत्वों के यथार्थरूपों से ही साधन-क्रिया सम्पादित करते हैं। इन्हें स्थूल पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती। वीरों की साधना का क्रम प्रतीकालम्बनाधार कही जा सकती है। वीर साधक स्वभावतः आनन्द में होता हुआ भी पूजा के पूर्व सच्चिदानन्द के हेतु सम्विदा का ग्रहण करता है और दिव्य साधक ज्ञानयोग-द्वारा 'जलसम्वित्' का आस्वादन करता है अथवा हठयोग द्वारा कुण्डली अर्थात् जीवशक्ति को सलिलतत्वात्मक चक्रच्छेदनकर 'जलसम्वित्' का अनुभव करता है। वीर परमानन्द के स्फुरण के निमित्त स्थूलरूप से मद्यपान (वेदविहित सोमपान) इष्टदेवता को कराते हुये स्वयं करता है और दिव्याचारी ज्ञानयोग से ब्रह्मज्ञानरूपी मद्य का पान करता है। वीर साधक पशु-पक्षी के मांस को पशुत्व अर्थात् जीवभाव को नष्ट करने के लिए ही आत्मस्थित देवता को अर्पित करता है और दिव्य साधक ज्ञानयोग के क्रम से परात्म सुख देनेवाले निर्विषय भाव को ग्रहण करता है। वीर साधक अहंकार, दम्भ, मद, पिशुनता, मात्सर्य और द्वेष के व्यञ्जक रूप मत्स्यों को चिदग्नि में अर्पणकर स्वात्मचिन्मात्रता भाव ग्रहण करते हैं और दिव्य साधक ज्ञानयोग-द्वारा इन्द्रिय-निग्रहकर मत्स्यरूपी संयम का आस्वादन करते हैं। हठयोग के अनुसार यही भाव इस प्रकार है कि गङ्गा (इड़ानाड़ी) और यमुना (पिंगला) नदियों वा नाड़ियों में बहनेवाली रजोगुण और तमोगुणरूपी धाराओं में रहनेवाली मछलियाँ राजसिक और तामसिक सर्ग-विकार हैं, जिन्हें हठयोगी प्राणायाम आदि क्रियाओं के द्वारा नष्टकर सुषुम्नापथ वा सरस्वती वा सत्वगुण में लय कर लेता है। भक्षण की पर्यायवाचक संज्ञा लय भी है।

है। भगवती आनन्दमयी है। इस हेतु उसकी पूजा बिना साधक के आनन्दित हुये नहीं हो सकती है। यहाँ पूजा के भाव अद्वैत वा विशिष्टाद्वैत मात्र हैं। दुःखी वा निरानन्द भी पूजा करता है अपने दुःख की निवृत्ति के हेतु। ऐसी पूजा शुद्ध द्वैत भाव की हैं। निशीथ अर्थात् आधीरात का स्थूल अर्थ है मध्यरात्रि का समय किन्तु इसका भाव है सुषुप्ति अवस्था वा प्राज्ञावस्था। प्राज्ञ ही ऐसी पूजा कर सकता हैं। पूजा का स्थान श्मशान है। इस पद्य का आध्यात्मिक तात्पर्य यह हैं कि प्राज्ञ श्मशान में अर्थात् शुद्ध हृदय से, जिसमें कामादि सभी आसुरी सङ्ग भस्म हो गए हैं, आनन्दावस्था में मोहादिरूपी मेषादि पशुगुणों वा अहंकार वा जीवभाव के साथ महिष-व्यञ्जित क्रोधसर्गों की वलि देकर अर्थात् उन्हें दूर करके कल्याण-मयी की पूजा अर्थात् भगवती से आत्मैक्य की साधना करता है।

महापूजां मातस्तव वितनुते यस्तु मधुना
तथा मांसैर्मत्स्यैर्विविधनवमुद्रादिभिरपि ।
वरस्त्रीभिः सार्धं निधुवनविनोदेन मुदितो
निशीथे संसारात्स भवति विमुक्तः पशुभयात् ॥

टीका—हे माता! जो आनन्दित हो मध्यरात्रि के समय स्त्रियों के साथ सुरत-प्रमोदित हो मद्य, मांस, मछली और नौ प्रकार की मुद्राओं से तुम्हारी सबसे बड़ी पूजा विस्तृत-रूप से करता है, वह पशुपाशरूप संसार के वन्धन से छूट जाता है।

व्याख्या—इस पद्य में आनन्दमार्ग वा वीरभाव और दिव्यभाव की साधना का उल्लेख है। वीर साधक

स्थूल पदार्थों और क्रियाओं के भाव को ध्यान में रखते हुये ही स्थूलरूप की क्रिया करते हैं और दिव्य साधक ज्ञानयोग अथवा हठयोग-द्वारा पञ्चतत्वों के यथार्थरूपों से ही साधन-क्रिया सम्पादित करते हैं। इन्हें स्थूल पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती। वीरों की साधना का क्रम प्रतीकालम्बनाधार कही जा सकती है। वीर साधक स्वभावतः आनन्द में होता हुआ भी पूजा के पूर्व सच्चिदानन्द के हेतु सम्विदा का ग्रहण करता है और दिव्य साधक ज्ञानयोग-द्वारा 'जलसम्वित्' का आस्वादन करता है अथवा हठयोग द्वारा कुण्डली अर्थात् जीवशक्ति को सलिलतत्वात्मक चक्रच्छेदनकर 'जलसम्वित्' का अनुभव करता है। वीर परमानन्द के स्फुरण के निमित्त स्थूलरूप से मद्यपान (वेदविहित सोमपान) इष्टदेवता को कराते हुये स्वयं करता है और दिव्याचारी ज्ञानयोग से ब्रह्मज्ञानरूपी मद्य का पान करता है। वीर साधक पशु-पक्षी के मांस को पशुत्व अर्थात् जीवभाव को नष्ट करने के लिए ही आत्मस्थित देवता को अर्पित करता है और दिव्य साधक ज्ञानयोग के क्रम से परात्म सुख देनेवाले निर्विषय भाव को ग्रहण करता है। वीर साधक अहंकार, दम्भ, मद, पिशुनता, मात्सर्य और द्वेष के व्यञ्जक रूप मत्स्यों को चिदग्नि में अर्पणकर स्वात्मचिन्मात्रता भाव ग्रहण करते हैं और दिव्य साधक ज्ञानयोग-द्वारा इन्द्रिय-निग्रहकर मत्स्यरूपी संयम का आस्वादन करते हैं। हठयोग के अनुसार यही भाव इस प्रकार है कि गङ्गा (इड़ानाड़ी) और यमुना (पिंगला) नदियों वा नाड़ियों में वहनेवाली रजोगुण और तमोगुणरूपी धाराओं में रहनेवाली मछलियाँ राजसिक और तामसिक सर्ग-विकार हैं, जिन्हें हठयोगी प्राणायाम आदि क्रियाओं के द्वारा नष्टकर सुषुम्नापथ वा सरस्वती वा सत्वगुण में लय कर लेता है। भक्षण की पर्यायवाचक संज्ञा लय भी है।

हठयोगी मांस और मत्स्यभक्षण खेचरी आदि मुद्रासाधन से भी करते हैं। वीर साधक आठों प्रकार की मुद्राओं के द्योतक आशा, तृष्णा, जुगुप्सा, भय, घृणा, क्रोध और सम्मान भावों का ही लय (भक्षण) करते हैं और दिव्य साधक ज्ञानयोग-द्वारा पृथ्वीतत्व की, जिसकी द्योतक मुद्रा है, जड़ता का लय करते हैं। हठयोग द्वारा मूलाधार चक्र का भेदन कर जलतत्व में उसे लय करते हैं। वीर साधक विहित शक्ति का सङ्ग-सामरस्य शिव-शक्ति-सामरस्य की भावना से ही करता है और दिव्य साधक ज्ञानयोग द्वारा आत्मा और परमात्मा के मिथुनसंयोगरूप मैथुन-क्रिया का सम्पादन करता है और हठ-योग द्वारा कुण्डली वा प्राणशक्ति को सहस्रार में ले जाकर परशिव से संयुक्त करके मैथुन-क्रिया करता है। पञ्चतत्वात्मक पूजा की संक्षेप में यही भावना है। इसे अच्छी तरह समझना जरूरी है क्योंकि जिस प्रकार पूजा की भावना का ज्ञान न होने से उसका पूरा फल नहीं मिलता, उसी प्रकार पञ्चमकार वा पञ्चतत्वों का भाव समझे विना वह अभिचाररूप हो जाता है। यह पञ्चतत्वात्मिका पूजा श्रौत यज्ञों का ही दूसरा रूप है। यज्ञ के निन्दक भले ही इसकी निन्दा करें।

त्रिकोणे पीठे त्वां वरनिधुवनासक्तहृदयां
महाकालेनोद्यत्पुलकनिचयां स्मेरवदनाम् ।
स्वयं नक्तं कान्तारतिरससमासक्तहृदयो
मनुष्यो यो ध्यायेद् भवति शिवतुल्यः स धरणौ ॥

टीका—जो मनुष्य स्वयं नग्न हो अपनी भार्य्या के सङ्ग-सामरस्य का आनन्दानुभव करते हुए तुम्हारे मुसकुराते वदन और महाकाल के साथ श्रेष्ठ सामरस्य के कारण पुलकित

स्वरूप का ध्यान त्रिकोण पीठ पर करता है, वह पृथ्वी पर शिवतुल्य होता है।

व्याख्या—इस पद्य में ध्यान-सम्बन्धी रहस्यपूर्ण विधि का उल्लेख है। इस प्रकार का ध्यान करने का अधिकार सबको नहीं है। कारण इसका भाव समझना जन-साधारण की बुद्धि के परे है। नग्न का तात्पर्य है मायाविकार से रहित अर्थात् अद्वैत बुद्धि से युक्त। जिस प्रकार कपड़े शरीर के आवरण हैं, उसी प्रकार जीवभाव वा अविद्या आत्मा का आवरण है। इसी जीवभाव के कारण आत्मा अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है। अतएव जीवभाव का हटना ही यथार्थ में नग्न होना है। कान्ता वा भार्य्या से जीव की प्राणशक्ति से मतलब है। इस प्राणशक्ति के सङ्ग सामरस्य का तात्पर्य जीवभाव और शिवभाव के सामरस्य अर्थात् ऐक्य से है। संक्षेप में इस प्रकार के ध्यान का आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि साधक अविद्या के आवरण और विक्षेप-द्वय मल से रहित हो अपने शरीर की आत्मा-प्रत्यात्मा की ऐक्य-भावना से परात्मारूपिणी चित्धर्मी शक्ति को महाकालरूपी धर्मशक्ति से अभिन्न ध्यान करता है। महाकाल से सामरस्य का तात्पर्य है देश काल के भाव का लय करके चिन्मात्रतावशेष होना। आत्मा का ही विशुद्धरूप प्रत्यगात्मा है। शिवतुल्य से तात्पर्य जीवन्मुक्तावस्था से है, जिसमें जीवभाव के लय होने पर शिवभाव अर्थात् 'ब्रह्माहमस्मि' का भाव रह जाता है। 'त्रिकोण पीठ' के कई भाव हैं। ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी को त्रिकोण कह सकते हैं। और त्रिकोण से योन्यात्मक पीठ अर्थात् मातृयोन्यात्मक पीठ से भी तात्पर्य है। त्रिकोण पीठ दूसरे प्रकार का श्मशान भी है।

समुत्तुंगापीनस्तनजघनराजत्कुलवधू-
व्यवायव्यासक्तो जपति तव भक्तो यदि मनुम् ।
गलद्वासः केशो जननि ! मनुजो मेदिनितले
स सिद्धीशः शक्त्या जयति सुचिरं सर्वसुजनम् ॥

टीका—हे माता ! जिसके वस्त्र गिर पड़े हैं और केश खुल गये हैं, ऐसा तुम्हारा जो भक्त उन्नत स्थूल स्तन तथा जघनों से शोभित कुलनायिका से ऐक्य में विशेषरूप से आसक्त हो तुम्हारे मन्त्र को जपता है, वह पृथ्वी पर सिद्धियों का स्वामी हो बहुत समय के लिए सभी अच्छे मनुष्यों पर अधिकार रखता है।

व्याख्या—इस पद्य में अति गुह्य-साधन और उसके माहात्म्य का उल्लेख है। इसके कई तात्पर्य्य हैं। सर्वप्रथम साधक की मानसिक अवस्था दिखाई है। साधक भक्त है। ठीक, विना भक्ति के साधना हो नहीं सकती। उस पर ऐसी साधना तो विना अनन्य भक्त हुये सम्भव ही नहीं। फिर साधक 'गलद्वासः' क्यों ? उसकी अब मनोवृत्ति सम्पूर्णतया अन्तर्मुखी हो चुकी है। उसे खबर नहीं कि उसके वस्त्र खुलकर गिर पड़े हैं। वह इतना तल्लीन है। वह मुक्तकेश है अर्थात् उसे संकल्प-विकल्प की भावना ही नहीं रही। ऐसा ही ज्ञानी साधक कुलवधू के साथ अभिन्न भाव से मन्त्र का जप कर सकता है। कुलवधू से कुण्डलीयोग में कुण्डली से, हठयोग में शाम्भवी मुद्रा से, मन्त्रयोग में शाम्भवी विद्या से और ज्ञानयोग में असंवेदनरूपा ज्ञान की छठीं भूमिका से तात्पर्य्य है। ऐसे ही साधक अणिमादि आठों सिद्धियों के स्वामी होते हैं और पृथ्वी पर अर्थात् इसी स्थूल पञ्चतत्वात्मक शरीर में चिरजीवी हो सभी मनुष्यों के पूज्य हो रहते हैं।

भवानि ! श्रीमातर्निजगलितवीर्याप्तचिकुर-
मथ प्रेम्णा लब्ध्वा वचनभुवनेशीयुतमनुम् ।
समुच्चार्य्य क्षोणीतनयदिवसे प्रेतसदने
स दीर्घायुर्वाग्मी भवति शतहोमात् क्षितितले ॥

टीका—हे भवानी ! हे श्रीमाता ! इसके बाद जो मंगलवार को श्मशान में भक्तिपूर्वक अपने सामर्थ्ययुक्त केश के, वचन= ऐं (वाग्वीज) और भुवनेशी=ह्रीं से युक्त मन्त्र का सम्यक् प्रकार से उच्चारण करके सौ बार हवन करता है, वह पृथ्वी पर दीर्घायु और अच्छा वक्ता होता है।

व्याख्या—इस पद्य में मन्त्रयोजना के अनुसार हवन-विधि और उसके फल का उल्लेख है। मन्त्र के आदि में वागवीज की योजना वाग्मित्व अर्थात् अच्छी वक्तृत्व शक्ति देने के निमित्त है। मायावीज युक्त करके जप वा हवन करने से आयु बढ़ती है। होमद्रव्य भी दो हैं। सामर्थ्य वा शक्ति को चिदग्नि में समर्पण करने से प्राणशक्ति बढ़ती है और केश व्यञ्जित अज्ञान-वृत्ति के दहन से ज्ञान की वृद्धि होती है, जिससे वाग्मी होता है। इस विधि और द्रव्यद्वय के रहस्य गुरु से ही समझना चाहिए। यहाँ इतना उल्लेख करना युक्त है कि यह कुण्डली-योग की क्रिया है, जिसके विभिन्न साधन ज्ञानयोग में और हठयोग में हैं। यह क्रिया मूलाधारचक्र-स्थित मातृयोनि (त्रिकोण) में स्वयम्भू लिंग के वीर्य्य वा प्राणशक्ति कुण्डली को अग्नितत्वात्मक मणिपुरचक्र में ले जाने पर होती है।

अजस्रं यो मन्त्रं जपति भूमीधरसुते !
विचिन्त्याग्रे मातः ! कुसुमललितं मारभवनम् ।

धरण्यां कन्दर्पप्रतिमतनुभृतः स सकलान्
निजेष्टानाप्नोति प्रविशति मुदा तारिणिपदम् ॥

टीका—हे माता हिमालयकन्ये ! जो पुष्पों से शोभित काम-भवन को देखता और इसका चिन्तन करता हुआ मन्त्र का अविरत रूप से जप करता है, वह पृथ्वी पर कन्दर्प के समान सुन्दर हो अपने समस्त अभीष्टों को प्राप्त करता है और तारिणी-पद अर्थात् परमपद का लाभ करता है।

व्याख्या—इस पद्य में एक विशिष्ट प्रकार के जप-साधन का उल्लेख है। इसका आध्यात्मिक रहस्य यह है कि काम अर्थात् इच्छाभवन अर्थात् अवस्था उसके पुष्प अर्थात् कार्य्य का ज्ञान रखते हुये अर्थात् चित्शक्ति की 'एकाहं बहुस्याम्' इच्छा जब हुई अर्थात् जब परविन्दु में स्पन्दन हुआ और इससे शुक्ल और रक्त दोनों अपर-विन्दुओं का प्रस्फुटन हुआ, जिससे रजोधारा अर्थात् रजोगुणात्मक प्रपञ्च का कार्य्य प्रारम्भ होने लगा तब की ऐसी सत्ता का ज्ञान अर्थात् कार्य्यकारणाभेद का ज्ञान अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के ज्ञान-पुरस्सर जप अर्थात् मनन करने से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं।

तमोग्रस्ते चन्द्रे यदि जपति लोकस्तव मनुं
नवम्यां वा मातर्धरणिधरकन्ये ! वितनुते।
तथा सूर्य्ये पृथ्वीवलयतिलकः काव्यतरनी-
पयोधिः सिद्धीनां भवति भवनं सर्वविदितः ॥

टीका—हे माता हिमालय की पुत्री ! यदि कोई मनुष्य चन्द्रग्रहण के समय अथवा नवमी वा रविवार को ('सूर्य्ये' का सूर्य्यवार से भी तात्पर्य्य है और सूर्य्यग्रहण से भी) तुम्हारे मन्त्र का जप करता है, वह पृथ्वी पर सबसे बड़ा काव्यधाराओं का

समुद्र (भाण्डार), सर्वविख्यात और सिद्धियों का निवासस्थान होता है।

व्याख्या—इस पद्य में मन्त्र-पुरश्चरण के विशिष्ट समयों का उल्लेख है। ग्रहण-समय स्पर्श से लेकर मुक्ति तक के समय को कहते हैं। इसमें जपसंख्या का नियम नहीं है जैसा साधारण मन्त्र-पुरश्चरण में होता है। चन्द्र वा सूर्य्यग्रहण के कई तात्पर्य्य हैं। यह तो ज्ञात ही है कि जो समष्टि में है, वह व्यष्टि में भी है। समष्टि के चन्द्र, सूर्य्यग्रहणों के स्थूलरूपों को हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं परन्तु व्यष्टि में केवल कुण्डली-योगसिद्ध ही उन्हें देख सकते हैं। चन्द्रग्रहण तो हम अज्ञानियों के निमित्त प्रायः सर्वदा ही रहता है कारण हमारे चन्द्रमण्डल की चन्द्रिका हमारी पृथ्वी अर्थात् मूलाधारचक्र तक आती ही नहीं है।:बीच ही में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रग्रन्थियों से अवरोधित हो जाती है। यह अवरोधन मन्त्र चैतन्यावस्था के जप से हटता है। यही अवस्था सूर्य्यग्रहण अर्थात् सूर्य्यज्योति के अवरोध की है। ज्ञानयोग में चन्द्रमण्डल से सात्विक भावनाओं से और सूर्य्यमण्डल से राजसिक भावनाओं से तात्पर्य्य है। सात्विक वृत्ति पर छाया वा अविद्यावरण के समय मन्त्रजप अर्थात् मनन की अनेक आवृत्तियों की परम आवश्यकता है। इसी प्रकार राजसिक वृत्ति पर अर्थात् मिश्र शुद्धाशुद्ध तत्वव‍ृत्ति पर तामसिक आवरण पड़ने पर ऐसा ही उपाय करना पड़ता है। नवमी तिथि का उल्लेख भी रहस्य से खाली नहीं है। शास्त्रों में ९ को विराट् विश्वपुरुष का द्योतक कहा गया है। दश महाविद्याओं की श्रृंखला यही बतलाती है। आद्या-शून्यरूपिणी है। उसी के रूपान्तर ९ महाविद्यायें हैं। संहार वा लयक्रम से गिनने पर तारा विद्या नवमी महाविद्या है। इसी हेतु नवमी तिथि तारा भगवती के साधन में प्रशस्त है। 'वितनुते' शब्द भी सारगर्भित

है। ग्रहण का पुरश्चरण जहाँ थोड़े समय तक ही सीमित है, वहाँ नवमी तिथि के पुरश्चरण का विस्तृत रूप है कारण तिथि की अवधि साधारणतया ६० दण्ड है। इसके अतिरिक्त 'मनुं वितनुते' का तात्पर्य्य मन्त्र के विस्तृत रूप से भी है। 'सूर्य्ये' से वार-पुरश्चरण का भी बोध होता है, जिसको उदयोदय पुरश्चरण भी कहते हैं।

सदा पादाम्भोजे भ्रमत हृदयं भृङ्ग इव मे
सदा पाणिद्वन्द्वं परिचरत् कर्णस्तव कथाम्।
शृणोतु त्वत्कीर्तिं हरमहिषि गीर्गायत सदा
सदादृष्टिर्भूयाद् भवदनुचरालोकनपरा॥

टीका—हे शिवे! आपके चरणकमलों में मेरा हृदय भृंगवत् भ्रमण करे, मेरे दोनों हाथ परिचर्य्या करें, कान आपकी कथायें सुनें, वाणी यशोगान करे और सर्वदा आप पर ही मेरी दृष्टि रहे।

व्याख्या—इस पद्य में स्तुतिकार अथवा पूर्व-कथित साधनों-द्वारा संसिद्ध साधक की प्रार्थना है। अब साधक का कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है। साधक के प्राण और इन्द्रियाँ निर्विषयक हो गई हैं। इसका प्राणरूपी मधुकर सच्चिदानन्दविग्रहा तारिणि के पादपद्म के मधु के सिवा कुछ नहीं पान करता है। इसकी आँखें त्रिपुरसुन्दरी माता तारा को छोड़ किसी को नहीं देखतीं कारण इसकी दृष्टि परा अर्थात् दिव्य हो गई है। कान भी परा शब्द वा अनाहतध्वनि के सिवा और कुछ नहीं सुनते। और वाणी वैखरीरूप महावाक्य के अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है? हाथ भी 'आत्मप्रीणन' अतः 'परात्मप्रीणन' कर्म ही करते हैं कारण अब आत्मा और परात्मा में अभेद है।

कदा काले शैलेश्वरतनुभवे ! पादयुगलं
मुदा द्रक्ष्ये ब्रह्मप्रमुखविबुधानां परिणुतम् !
कृपापारावारे ! भवजननभीतैकशरणे !
शरण्ये कारुण्यं मयि वितर दीने भगवति ॥

टीका—हे पर्वतराजकन्ये ! ब्रह्मादि देवताओं द्वारा वन्दित तेरे पादयुगल को आनन्दित हो कब देखूँगा ? हे करुणामयी ! जन्ममरणरूपी दुःख-से रक्षा करनेवाली शरण देनेवाली भगवती ! मुझ दीन पर कृपा कर।

व्याख्या—इस पद्य में साधक की चरम प्रार्थना है पूर्ण-तन्मयता के लिए, जिसके हेतु दीन अर्थात् अहंकार-हीन हो वह कृपादृष्टि चाहता है। आप लाख साधन करें, परन्तु बिना 'उसकी' कृपा कुछ होने का नहीं है। जब आप साधन करते हैं, तब 'वही' उपयुक्त गुरु के रूप में आकर आपको साधनप्रणाली का उपदेश देती है। 'उसकी' कृपा से आपका साधन होता है और आप उसको पाने के अधिकारी हो जाते हैं। यह बुद्धियोग देनेवाली करुणामयी समष्टि-व्यष्टि-मातृरूपिणी तारा ही है। दीन अर्थात् निरहंकार पर ही 'उसकी' कृपा होती है। इसी दीनता वा अनन्यशरण्यता से ही साधना का सर्वोच्च फल प्राप्त होता है।

सदैव स्तोत्रं यः पठति मुदितः साधकवरो
न दारिद्र्यं तस्य प्रभवति कदाचित् क्षितितले।
त्रिवर्गो हस्ते स्याज्जगदखिलमेतच्च वशगं
चिरं जीवन्नन्ते जननि लभते मोक्षपदवीम् ॥

टीका—हे माता ! जो साधकश्रेष्ठ प्रसन्नचित्त हो सर्वदा स्तोत्र का पाठ करता है, वह पृथ्वी पर कभी वा किसी दशा में दरिद्र नहीं रहता है। उसके हाथ में अर्थ, धर्म और काम तीनों पुरुषार्थ रहते हैं। अधिक क्या सारा संसार ही उसके वश में रहता है। वह चिरजीवी रहकर अन्त में अर्थात् मरण के उपरान्त मोक्षपद को पाता है।

व्याख्या—इस पद्य में स्तोत्र के पाठफल का उल्लेख है। इसमें 'सदैव' का तात्पर्य्य है सर्वदा मनन से। 'पठति' का भी अर्थ केवल पढ़ना नहीं है, शब्द के अर्थ-ज्ञान-सहित विधि-पुरस्सर पाठ को ही पाठ कहते हैं। 'मुदितः' का तात्पर्य्य है पूर्ण अनुरागरञ्जित हृदय से। 'साधकवरः' का तात्पर्य्य है साधन-सम्पन्न व्यक्ति से और 'मोक्षपदवी' से कैवल्य मुक्ति से ही तात्पर्य्य है।

इदं स्तोत्रं मातः प्रपठति दिवारात्रिमनिशं
स सर्वज्ञो योगीश्वरनिकरचूडामणिसमः।
जडोऽपि त्वद्रूपं जपति यदि संचिन्त्य मनसा
त्वदग्रेभूयोच्चैः क्षितिपतिसमानः क्षितितले॥

टीका—हे माता ! मन्दबुद्धि भी अगर तुम्हारे रूप का मानसिक चिन्तन करता हुआ इस स्तव का वार-वार उच्चस्वर से तुम्हारे सामने दिन-रात पाठ करे तो वह त्रिकालज्ञ और प्रत्येक वस्तु का वेत्ता होता है। वह योगियों के अग्रगण्य और चक्रवर्ती राजा के समान पृथ्वी पर रहता है।

व्याख्या—इसमें सर्वोच्च पाठ-विधि के फल का उल्लेख है। पाठ किस प्रकार का हो, यह दिखलाया गया है। इस स्तव के

पाठ का तात्पर्य्य केवल गुण-कीर्तन से ही नहीं है। इस पाठ से भगवती के मननात्मक और निदिध्यासात्मक क्रिया-स्वरूप मन्त्रजप, हवन, तर्पण, बलिदान इत्यादि सभी के अन्तस्तात्पर्य्य के ज्ञानों से तात्पर्य है। जिसका यह फल है कि जड़ भी अर्थात् मन्दबुद्धि अकृतोपासक अर्थात् जिसने उपासना नहीं की है, वह भी इस प्रकार के पाठ करने से ब्रह्मज्ञानी होकर सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। यहाँ 'क्षितिपति' का तात्पर्य्य सर्वश्रेष्ठ से है। 'त्वदग्रे' का भाव अखण्डकार चित्तवृत्ति से है अर्थात् इष्ट का ही अखण्ड ध्यान रखते हुये से है।

महापुण्यं धन्यं सकलपुरुषार्थैकनिलयं
यशस्यं चायुष्यं सततभवतापापहमिदम्।
रहस्यं प्राकाम्यं नहि खलु कदाचित् पशुजने
पठेत् पूजाकाले जननि लभते मोक्षपदवीम्॥

इति श्री फेत्कारिणीतन्त्रे
श्री शिवपार्वती सम्वादे श्री तारा-स्वरूपाख्यस्तोत्रं सम्पूर्णम्॥

टीका—हे माता! महापुण्य देनेवाले, धन्य करनेवाले, चारों पुरुषार्थ अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को देनेवाले, यश और आयु के बढ़ानेवाले और अनवरत संसार के दुःखों को दूर करनेवाले इस स्तोत्र का रहस्य किसी अवस्था में अज्ञानी मनुष्यों के आगे प्रकाश करना उचित नहीं है। पूजा-समय में इसके पाठ से मोक्ष मिलता है।

व्याख्या—इस अन्तिम पद्य में इस स्तवराज के रहस्य का पशु अर्थात् अनधिकारी के सामने प्रकाशन करना मना किया गया है। जिस प्रकार ब्रह्म-विद्या का प्रकाशन अनधिकारी के सामने निषिद्ध है, उसी प्रकार मिश्र कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड

की तांत्रिक रहस्योपासना पशुओं के सामने नहीं प्रकट करनी चाहिए। इससे अनिष्टापत्ति की संभावना है, जिसके भागी कहनेवाले और सुननेवाले दोनों हैं। आजकल यह भी एक कारण है कि तान्त्रिक रहस्य-साधना की खिल्ली उड़ायी जाती है और अधिकांश कथित वीर पशु से भी पतित हो रहे हैं। शाक्त-दर्शन के अनुयायी को सर्पक्रीड़ावत् अति कठिन क्रियायें करनी पड़ती हैं। यह हलाहल विष पीकर अमर होने के समान है। अपना अस्तित्व मिटाकर अस्तित्व बनाना है। यह कौल-साधन है, जो योग साधने से भी कठिन है, जिसके विशेष रूप इस स्तवराज में प्रतिपादित हैं। यह साधन विना सद्गुरु की कृपा प्राप्त नहीं होता।

श्रीतारास्वरूपाख्य स्तवराज की श्यामानन्ददायिनी
हिन्दी-व्याख्या सम्पूर्ण
॥ ॐ श्री परास्बार्पणमस्तु। ॐ शम्॥